आलोक-पर्व

आलोक-पर्व

हजारीप्रसाद द्विवेदी

राजकमल प्रकाशन

मूल्य १८००

प्रथम संस्करण १९७२
प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०
८ फैज़ बाज़ार, दिल्ली ६
मुद्रक जी० आर० कम्पोजिंग एजेंसी
द्वारा शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली ३२
आवरण हरिप्रकाश त्यागी

अनुक्रम

आलोक-
पर्व

अन्धकार से जूझना है !

न जाने कब से मनुष्य के अन्तरतर से दीन रट निकलती रही, मैं अंधकार से घिर गया हूँ मुझे प्रकाश की ओर ले चलो ।— तमसो मा ज्योतिर्गमय ! परन्तु यह पुकार शायद सुनी नहीं गई— होत न श्याम सहाय ! प्रकाश और अंधकार की आँखमिचौनी चलती ही रही चलती ही रहेगी । यह तो विधि-विधान है । कौन टाल सकता है इसे !

लेकिन मनुष्य के अन्तर्यामी निष्क्रिय नहीं हैं । वे थकते नहीं रुकते नहीं भुकते नहीं । वे अधीर भी नहीं होते । वैज्ञानिक का विश्वास है कि अनन्त रूपों में विकसित होते होते वे मनुष्य के विवेक रूप में प्रत्यक्ष हुए हैं । करोड़ों वर्ष लगे हैं इस रूप में प्रकट होने में । उन्होंने धीरज नहीं छोड़ा । स्पर्शेन्द्रिय से स्वादेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय की ओर और फिर चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय की ओर अपने आपको अभिव्यक्त करते हुए मन और बुद्धि के रूप में आविर्भूत हुए हैं । और भी न जाने किन रूपों में अग्रसर हों । वैज्ञानिक का अन्तर्यामी शब्द पसन्द नहीं है । कदाचित् वह प्राणशक्ति कहना पसन्द करे । नाम का क्या झगड़ा है ?

जीव का काम पूरा काल में स्पर्श से चल जाता था, बाद में उसने घ्राण शक्ति पाई । वह दूर-दूर की चीज़ों का अन्दाज़ा लगाने लगा । पहले स्पर्श में भिन्न सब कुछ अंधकार था । अन्तर्यामी रुके नहीं । घ्राण का जगत फिर स्वाद का जगत फिर रूप का जगत फिर शब्द का संसार । एक पर एक नए जगत उद्घाटित होते गए । अंधकार में प्रकाश और भी प्रकाश और भी और भी ! यहीं तक क्या अन्त है ? कौन बताएगा ? कातर पुकार अब भी जारी है— तमसो मा ज्योतिर्गमय ! न जाने कितने ज्योतिर्द्वार उद्घाटित होनेवाले हैं ।

यहा है और ठीक ही कहा गया है कि मनुष्य से भिन्न प्रकार सृष्टि में भी इंद्रिय गृहीत बिम्ब किसी-न किसी रूप में रहते हैं पर यहां ना जाना ही कमी है। इन बिम्बों को विविक्त करने की शक्ति और विविक्तीकृत बिम्बों को अपनी इच्छा से सङ्कल्पपूर्वक—नये सिरे से नये प्रकार विस्तार या परस्युजन आविष्करण की प्रक्रिया द्वारा नयी अर्थात् प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं से भिन्न नयी चीज बनाने की क्षमता। शब्द के बिम्बों के विविक्तीकरण का परिणाम भाषा काव्य और संगीत हैं रूप बिम्बों के विविक्तीकरण के फल रंग उन्नतावनता ह्रस्व-दीर्घ-वर्तुल आदि बिम्ब और फिर सङ्कल्प शक्ति द्वारा विनियुक्त होने पर चित्र मूर्ति वास्तु वस्त्र, अलंकरण साज-सज्जा आदि। इसी तरह और भी इंद्रिय गृहीत बिम्बों का विविक्तीकरण और सङ्कल्प संयोजन से मानव सृष्ट सहस्रों नई चीजें। यह कोई मामूली बात नही है। अभ्यास के कारण इनका महत्त्व भुला दिया जाता है पर भुलाना चाहिए नही। मनुष्य कुछ भुलक्कड हो गया है। लेकिन यह बहुत बडा दोष भी नही है। न भूले तो जीना ही दूभर हो जाए। मगर ऐसी बातो का भूलना जरूर बुरा है जो उस जीने की शक्ति देती है सीधे खडा होने की प्रेरणा देती है।

किस दिन एक शुभ मुहूर्त मे मनुष्य ने मिट्टी के दिये, रुई की बाती चकमक की चिनगारी और बीजो से निकलने वाले स्नेह का सयोग देखा। अधकार को जीता जा सकता है। दिया जलाया जा सकता है। घन अधकार मे डूबी धरती को आशिक रूप मे आलोकित किया जा सकता है। अधकार से जूझने के सकल्प की जीत हुई। तब से मनुष्य ने इस दिशा मे बडी प्रगति की है पर वह आदिम प्रयास क्या भूलने की चीज है? वह मनुष्य की दीर्घकालीन कातर प्रार्थना का उज्ज्वल फल था।

दीवाली याद दिला जाती है उस ज्ञान लोक के अभिनव अकुर की जिसने मनुष्य की कातर प्रार्थना को दृढ सकल्प का रूप दिया था—अधकार से जूझना है विघ्न बाधाओ की उपेक्षा करके सकटो का सामना करके!

इधर कुछ दिनो से शिथिल स्वर सुनाई देने लगे हैं। लोग कहते सुने जाते हैं—अधकार महाबलवान है उससे जूझने का सकल्प मूढ आग्रह मात्र है। सोचता हू यह क्या सकल्प शक्ति का पराभव है? क्या मनुष्यता की अब मानना है? दीवाली आकर कह जाती है, अधकार से जूझने का सकल्प ही सही यथार्थ है। मृगमरीचिका मे मत भटको। अधकार के सकडो परत हैं। उससे जूझना ही मनुष्य का मनुष्यत्व है। जूझने का सकल्प ही महादेवता है। उसी को प्रत्यक्ष करने की क्रिया का लक्ष्मी की पूजा कहते है।

आलोक-पर्व की ज्योतिर्मय देवी

माकण्डेय पुराण के अनुसार समस्त सृष्टि की मूलभूत आद्याशक्ति महालक्ष्मी है। वह सत्व, रज और तम तीनों गुणों का मूल समवाय है। वही आद्याशक्ति है। वह समस्त विश्व म व्याप्त होकर विराजमान है। वह लक्ष्य और अलक्ष्य इन दो रूपों म रहती है। लक्ष्य रूप म यह चराचर जगत ही उसका स्वरूप है और अलक्ष्य रूप म यह समस्त जगत की सृष्टि का मूल कारण है। उसी से विभिन्न शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। दीपावली को इसी महालक्ष्मी का पूजन होता है। तामसिक रूप म वह क्षुधा तृष्णा, निद्रा कालरात्रि महामारी के रूप म अभिव्यक्त होती है राजसिक रूप म वह जगत का भरण पोषण करनेवाली श्री के रूप म उन लोगों के घर म आती है जिन्होने पूर्व जन्म म शुभ कम किए होते हैं, परन्तु यदि इस जन्म मे उनकी वृत्ति पाप की ओर जाती है तो वह भयकर अलक्ष्मी बन जाती है। सात्त्विक रूप म वह महाविद्या महावाणी भारती वाक् सरस्वती के रूप म अभिव्यक्त होती है। मूल आद्या शक्ति ही महालक्ष्मी है।

शास्त्रों म ऐसे वचन भी मिल जाते हैं जिनम महाकाली या महासरस्वती को ही आद्याशक्ति कहा गया है। जो लोग हिंदू शास्त्रों की पद्धति से परिचित नही होते वे साधारणत इस प्रकार की बातों को देखकर वह उठते है कि यह बहुदेववाद है। यूरोपियन पडितों ने इसके लिए पालिथीज्म शब्द का प्रयोग किया है। पालिथीज्म या बहुदेववाद से एक ऐसे धर्म का बोध होता है जिसम अनेक छोटे बडे देवताओं की मण्डली म विश्वास किया जाता है। इन देवताओं की मर्यादा और अधिकार निश्चित होते हैं। जो लोग हिंदू शास्त्रों की थोडी भी गहराई म जाना आवश्यक समझते हैं वे इस बात को कभी नही स्वीकार

पर सकते । मैक्समूलर ने बहुत पहले बताया था कि वेदों में पाया जानेवाला 'बहुदेववाद' वस्तुतः बहुदेववाद है ही नहीं, क्योंकि न तो यह ग्रीक रोमन बहुदेववाद के समान है जिसमें बहुतेरे देवी देवता एक महादेवता के अधीन होते हैं और न अशोका आदि देशों की प्राचीन जातियों में पाए जानेवाले बहुदेववाद के समान है जिसमें छोटे मोटे भारी देवता स्वतन्त्र होते हैं। मैक्समूलर ने इस विश्वास के लिए एक नाम सुझाया था—हीनोथीइज़्म जिसे हिन्दी में एकदेवता-वाद शब्द से कुछ-कुछ स्पष्ट किया जा सकता है। इस प्रकार के धार्मिक विश्वास में अनेक देवता की उपासना होनी अवश्य है पर जिस देवता की उपासना चलती रहती है उसे ही सारे देवताओं से श्रेष्ठ और सबका हेतुभूत माना जाता है। जैसे जब इन्द्र की उपासना का प्रसंग होगा तो कहा जाएगा कि इन्द्र ही आदि देव है वरुण यम सूर्य चन्द्र अग्नि सबका वह स्वामी है और सबका मूलभूत है। पर जब अग्नि की उपासना का प्रसंग होगा तो कहा जायगा कि अग्नि ही मुख्य देवता है और इन्द्र वरुण आदि का स्वामी है और सबका मूलभूत देवता है इत्यादि।

परन्तु थोड़ी और गहराई में जाकर देखा जाय तो इसका स्पष्ट रूप अद्वैतवाद है। एक ही देवता है जो विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। उपासना के समय उसके जिस विशिष्ट रूप का ध्यान किया जाता है वही समस्त अन्य रूपों में मुख्य और आदिभूत माना जाता है। इसका रहस्य यह है कि साधक सदा मूल अद्वैत सत्ता के प्रति सजग रहता है। अपनी रुचि और संस्कारों और कभी कभी प्रयोजन के अनुसार वह उपास्य के विशिष्ट रूप की उपासना अवश्य करता है परन्तु शास्त्र उसे कभी भूलने नहीं देना चाहता कि रूप कोई हो है वह मूल अद्वैत सत्ता की ही अभिव्यक्ति। इस प्रकार हिन्दू शास्त्रों की इस पद्धति का रहस्य यही है कि उपास्य वस्तुतः मूल अद्वैत सत्ता का ही रूप है। इसी बात को और भी स्पष्ट करके वैदिक ऋषि ने कहा था कि जो देवता अग्नि में है जल में है वायु में है ओषधियों में है वनस्पतियों में है उसी महादेव को मैं प्रणाम करता हूँ।

आज से कोई दो हजार वर्ष पहले से इस देश के धार्मिक साहित्य में और शिल्प और कला में यह विश्वास मुखर हो उठा है कि उपास्य वस्तुतः देवता की शक्ति होती है। यह नहीं कि यह विचार नया है पहले था ही नहीं पर उत्तरकालीन धार्मिक साहित्य और शिल्प और कला सामग्री में यह बात इस समय में अधिक व्यापक रूप में और अत्यधिक मुखर भाव से प्रकट हुई दिखती है। इस विश्वास का सबसे बड़ा आवश्यक अंग यह है कि शक्ति और शक्तिमान में

कोई तात्विक भेद नहीं है दोनों एक हैं। चन्द्रमा और चन्द्रिका की भाँति वे अलग अलग प्रतीत होकर भी तत्त्वत एक हैं—अन्तर नव जानीमश्चन्द्र चन्द्रिकयोरिव। पर तु उपास्य शक्ति ही है। जो लोग इस विश्वास को अपनी तर्कसम्मत सीमा तक खींचकर ले जाते हैं, वे शाक्त कहलाते हैं। जो शक्ति और शक्तिमान् के एकत्व पर अधिक जोर देते हैं वे शाक्त नहीं कहलाते। मगर कहलाते हों या न कहलाते हों, शक्ति की उपास्यता पर विश्वास दोनों का है। जिन लोगों ने संसार की भरण पोषण करनेवाली वैष्णवी शक्ति को मुख्य रूप से उपास्य माना है उन्होंने उस आदिभूता शक्ति का नाम महालक्ष्मी स्वीकार किया है। दीपावली के पुण्य पर्व पर इसी आद्याशक्ति की पूजा होती है। देश के पूर्वी हिस्से में इस दिन महाकाली की पूजा होती है। दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। केवल रुचि और संस्कार के अनुसार आद्याशक्ति के विशिष्ट रूपों पर बल दिया जाता है। पूजा आद्याशक्ति की ही होती है। मुझे यह ठीक-ठीक नहीं मालूम कि देश के किसी कोने में इस दिन महासरस्वती की पूजा होती है या नहीं। होती हो तो कुछ अचरज की बात नहीं होगी। दीपावली का पर्व आद्याशक्ति के विभिन्न रूपों के स्मरण का दिन है।

यह सारा दृश्यमान जगत ज्ञान, इच्छा और क्रिया के रूप में त्रिपुटीकृत है। ब्रह्म की मूल शक्ति में इन तीनों का सूक्ष्म रूप में अवस्थान होगा। त्रिपुटीकृत जगत की मूल कारणभूता इस शक्ति को त्रिपुरा भी कहा जाता है। आरम्भ में जिसे महालक्ष्मी कहा गया है उससे यह अभिन्न है। ज्ञान रूप में अभिव्यक्त होने पर यह सत्त्वगुणप्रधान सरस्वती के रूप में, इच्छा रूप में रजोगुण प्रधान लक्ष्मी के रूप में और क्रिया रूप में तमोगुण प्रधान काली के रूप में उपास्य होती है। लक्ष्मी इच्छा रूप में अभिव्यक्त होती है। जो साधक लक्ष्मी रूप में आद्याशक्ति की उपासना करते हैं उनके चित्त में इच्छा तत्त्व की प्रधानता होती है पर बाकी दो तत्त्व—ज्ञान और क्रिया—भी उसमें सहायक होते हैं। इसीलिए लक्ष्मी की उपासना ज्ञानपूर्वा क्रियापरा होती है अर्थात् वह ज्ञान द्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमित इच्छा शक्ति की उपासना होती है। 'ज्ञानपूर्वा क्रियापरा' का मतलब है कि यद्यपि इच्छा शक्ति ही मुख्यतया उपास्य है, पर पहले ज्ञान की सहायता और बाद में क्रिया का समर्थन इसमें आवश्यक है। यदि उल्टा हो जाय, अर्थात् इच्छा शक्ति की उपासना क्रियापूर्वा और ज्ञानपरा हो जाय तो उपासना का रूप बदल जाता है। पहली अवस्था में उपास्या लक्ष्मी समस्त जगत के उपकार के लिए होती है। उस लक्ष्मी का वाहन गरुड होता है। गरुड़ शक्ति वेग और

सेवावत्ति का प्रतीक है । दूसरी अवस्था म उसका वाहन उल्लू होता है। उल्लू स्वाथ, अधकारप्रियता और विच्छिन्नता का प्रतीक है । लक्ष्मी तभी उपास्य होकर भक्त को ठीक-ठीक कृतकृत्य करती है । तब उसके चित्त म सवक कल्याण की कामना रहती है । यदि केवल अपना स्वाथ ही साधक के चित्त म प्रधान हो, तो वह उलूकवाहिनी शक्ति की ही कृपा पा सकता है। फिर तो वह तमोगुण का शिकार हो जाता है। उसकी उपासना लोककल्याण माग से विच्छिन्न होकर बन्ध्या हो जाती है। दीपावली प्रकाश का पव है । इस दिन जिस लक्ष्मी की पूजा होती है वह गरुडवाहिनी है—शक्ति सेवा और गतिशीलता उसके मुख्य गुण है । प्रकाश और अधकार का नियत विरोध है । अमावस्या की रात को प्रयत्नपूवक लाख लाख प्रदीपो को जलाकर हम लक्ष्मी के उलूकवाहिनी रूप की नही, गरुडवाहिनी रूप की उपासना करत है । हम अधकार का समाज से कटकर रहने का स्वाथपरता का प्रयत्नपूवक प्रत्याख्यान करत है और प्रकाश का सामाजिकता का और सवावत्ति का आह्वान करते है। हम भूलना न चाहिए कि यह उपासना ज्ञान द्वारा चालित और क्रिया द्वारा अनुगमित होकर ही साथक होती है—

सवस्या दया महालक्ष्मीस्त्रिगुणा परमे वरी ।
लक्ष्यालक्ष्यस्वरूपा सा व्याप्य कृत्स्न व्यवस्थिता ॥

प्राचीन भारत में मदनोत्सव

संस्कृत के किसी भी काव्य, नाटक, कथा और आख्यायिका को पढ़िए, वसन्त ऋतु का उत्सव उसमें किसी-न-किसी बहाने अवश्य आ जायेगा। कालिदास तो वसन्तोत्सव का बहाना ढूँढ़ते रहते-से लगते हैं। मेघदूत वर्षा ऋतु का काव्य है, पर यक्षप्रिया के उद्यान के वर्णन के प्रसंग में प्रिया के नूपुरयुक्त वामचरणों के मृदुल आघात से कंधे पर से फूल उठनेवाले अशोक और मुख-मदिरा से सिंचकर खिल उठने को लालायित बकुल की चर्चा उसमें आ ही गई है। वस्तुतः अशोक और बकुल को इस प्रकार खिला देने का उत्सव वसन्त में ही मनाया जाता था। वसन्त का समय प्राचीन भारत में उत्सवों का काल हुआ करता था। कामसूत्र में इस समय के कई उत्सवों की चर्चा आती है। इनमें दो बहुत प्रसिद्ध हैं—मदनोत्सव और सुवसन्तक। कामसूत्र के टीकाकार यशोधर ने दोनों को एक मान लिया है, पर अन्य ग्रंथों से स्पष्ट है कि ये दोनों उत्सव अलग-अलग दिनों को मनाए जाते थे। भोजदेव के अनुसार सुवसन्तक वसन्तावतार का उत्सव है—आजकल का वसन्तपंचमी का उत्सव। मदनोत्सव होली के रूप में आज भी पूरे उत्साह के साथ मनाया जाता है। वात्स्यायन के कामसूत्र में भी इसका उल्लेख है।

पुराने ग्रन्थों से पता चलता है कि फागुन से आरम्भ करके चैत के महीने तक वसन्तोत्सव कई प्रकार से मनाया जाता था। इसके दो रूप बहुत प्रसिद्ध थे। एक सार्वजनिक धूमधाम का और दूसरा कामदेव के पूजन का। सम्राट् हर्षदेव की रत्नावली नाटिका में इन दोनों प्रकार के उत्सवों का बड़ा ही सरस और जीवन्त वर्णन मिलता है। उस दिन सारा नगर पुरवासियों की करतल ध्वनि, मधुर संगीत और मृदंग के मादक घोष से मुखरित हो उठता था।

नागर जन मदमत्त हो उठते थे। राजा अपने ऊँचे प्रासाद की सबसे ऊची चद्रशाला मे बठकर नगरवासियो के आमोद प्रमोद का रस लेते थ। नागरिकाएँ मधुमास से मत्त होकर सामने पड जानेवाले किसी भी पुरुष को पिचकारी (शृगक) के रगीन जल से सराबोर कर देती थीं। राज मार्गों के चौराहो पर मदल नाम के ढोल और चचरी गीत की ध्वनियाँ मुखरित हो उठती थी। सुगधित पिष्टातक (अबीर) से दिशाएँ रगीन हा उठती थी। केसर मिश्रित पिष्टातक से राजपथ और प्रासाद इस प्रकार आच्छादित हो उठते थे कि प्रात कालीन उषा की छाया का भ्रम होने लगता था। नागरजनो के शरीर पर शोभमान हेमालकार और सिर पर धारण किए हुए अशोक के लाल लाल फूल इस सुनहरी आभा का और भी बढा देते थ। ऐसा जान पडता था कि कुबेर का भी अपनी समद्धि से जीतन का दावा करनेवाली सारी नगरी सुनहरे रग म डुबो दी गयी है—

> कोणों पिष्टातकौध कृतदिवसमुख कु कुमस्नात गौर
> हेमालकारभाभिभरनमितशिख शेखर कैकिरात।
> एषा वेषाभिलक्ष्यस्वभवनविजिताशेषवित्तेशकोषा
> कौशाम्बी शातकुम्भद्रवखचितजनेवकपीता विभाति।

रत्नावलि—१ ११

उस दिन बडे घरा क सामन आँगन म फव्वारे पूरे वेग से छूटते रहत थ और नागरिकाओं की अपनी पिचकारी म पानी भरन की उल्लास लालसा को पूरा करन म सहायक हुआ करते थ। इस स्थान पर पौर युवतिया क बराबर आने रहन स उनक सीमन्त क सिंदूर और कपोलो क अबीर भरन रहत थ और सारा फश लाल कीचड स भर जाता था फश सिंदूरमय हो उठता था—

> धारायत्रविमुक्तसततपय पूरप्लुते सवत
> सद्य सान्द्रविमदकदमकृतक्रीड क्षण प्रांगण।
> उद्दामप्रमदाकपोलनिपतत सिन्दूर रागारुण
> सान्दूरीक्रियते जनेन चरणन्यास पुर कुट्टिमम॥

मदन इस उत्सव का गजाधिप हस्ती इस वार-वनिताओं क मुख क वणन म मिलता है। जिसका यह हाथी का पुराना रूप है।

इसीके साथ ही इस उत्सव का एक शान्त स्निग्ध चित्र भी मिलता है।

ही बनाया जाता था—इसका मुख्य केन्द्र हुआ करता था। इसमें कामदेव का मंदिर हुआ करता था। इसी उद्यान में नगर के स्त्री पुरुष एकत्र होकर भगवान कन्दर्प की पूजा करते थे। यहां पर लोग अपनी अपनी इच्छा के अनुसार फूल चुनते माला बनाते, अबीर-कुंकुम से क्रीड़ा करते और नृत्य गीत आदि से मनोविनोद किया करते थे। इस मंदिर में प्रतिष्ठित परिवारों की कन्याएं भी पूजनार्थ आया करती थीं और मदन देवता की पूजा करके मनोवांछित वर की प्रार्थना करती थीं। जनता की भीड़ प्रातःकाल से ही शुरू हो जाती थी और सन्ध्याकाल तक अबाध गति से आती रहती थी। मालती माधव से पता चलता है कि अमात्य भूरिवसु की कन्या मालती भी इस उद्यान में कन्दर्प-पूजन के लिए आई थी। इस पूजन में धार्मिक बुद्धि की प्रधानता होती थी और शोरगुल और हुड़दंग का नाम भी नहीं था। यह मंदिर नगर के बाहर हुआ करता था।

मदन देवता की एक पूजा चैत्र के महीने में होती थी। अशोक वृक्ष के नीचे मिट्टी का कलश स्थापित किया जाता था। सफेद चावल भरे जाते थे। फलों और ईख का रस इस पूजा में नवैद्य थे। कलश को सफेद वस्त्र में ढका जाता था। चन्दन भी उस पर सफेद ही छिड़का जाता था। कलश के ऊपर ताम्र पत्र पर केले के पत्ते रखे जाते थे जिस पर कामदेव और रति की प्रतिमा उतारी जाती थी और नाना भांति के गंध धूप नृत्य गीत आदि से देवताओं को तृप्त किया जाता था। यह मत्स्यपुराण की बात है। इसके दूसरे दिन इन शुक्ल त्रयोदशी को भी पूजा होती थी। लोग व्रत रखते थे।

शिल्परत्न, विष्णुधर्मोत्तर पुराण आदि ग्रंथों में कामदेव की प्रतिमा बनाने की विधियां दी गई हैं। विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार उसके आठ भुज हैं, चार पत्नियां परन्तु शिल्परत्न में केवल यही कहा गया है कि वह अपूर्व सुन्दर हो और उसकी बायीं ओर सुभिलाषवती रति और दाहिनी ओर गृहकर्म निरता प्रीति ये दो पत्नियाँ हों। स्थायी मन्दिरों में दोनों प्रकार की मूर्तियां बनती थीं पर अशोक वृक्ष के नीचे जो मूर्ति बनती थी वह द्विभुज ही होती होगी। रत्नावली नाटक में राजा को अशोक वृक्ष के नीचे बैठा देखकर रत्नावली को भ्रम हो गया था कि कामदेव साक्षात आकर पूजा ग्रहण कर रहे हैं।

कालिदास के मालविकाग्निमित्र और श्री हर्षदेव की रत्नावली में इस उत्सव के सर्वाधिक सरस अनुष्ठान अशोक में पुष्प के आने का विवरण मिल जाता है। भोजराज और श्री हर्षदेव की गवाही पर कहा जा सकता है कि उस दिन सुन्दरियां कुसुंभी रंग की साड़ी पहनती थीं। तुरन्त स्नान करने

से रानी वामरत्ता की शरीर कान्ति और भी निखर आई थी वह कौसुम राग से रंजित साड़ी पहनकर जब अशोक वृक्ष के नीचे कामदेव की पूजा कर रही थी तो उसकी साड़ी का लाल पल्ला फड़फड़ा उठा था। उस समय राजा को ऐसा लगा था जैसे तरुण प्रवाल विटप की लता ही लहरा उठी हो—

प्रत्यग्रमज्जनविशेष विविक्त कान्ति
कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ।

मालविकाग्निमित्र से पता चलता है कि मदन देवता की पूजा के बाद ही अशोक में फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था। रत्नावली में भी इसकी चर्चा है। इस अनुष्ठान का रूप इस प्रकार था—कोई सुन्दरी सर्वाभरण भूषिता होकर पैरों को अलक्तकराग से रंजित करके नूपुर सहित बायें चरण से अशोक वृक्ष पर आघात करती थी। इधर नूपुरों की हल्की झनझनाहट उधर अशोक का सोल्लास कंधे पर से ही फूट उठना। साधारणतः रानी यह कार्य करती थी। पर मालविकाग्निमित्र में बताया गया है कि उस रानी के पैरों में चोट आ गई थी, इसलिए उन्होंने मालविका को भेज दिया था। मालविका अशोक वृक्ष के पास गई पल्लवों का गुच्छा हाथ से पकड़ा और बायें पैर से अशोक पर मृदु आघात किया। कालिदास की लेखनी ने इस मादक चित्र को अपूर्व गरिमा से भर दिया है।

परब्रह्म की उस मानसिक इच्छा का जो संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होती है मूलरूप ही काम है। जब यह सृष्टि रचना के अनुकूल होता है तो विष्णु और शिव का साक्षात् रूप कही जाती है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं जीवमात्र में धर्म के अविरुद्ध रहने वाला काम हूँ परन्तु जो व्यक्तिगत इच्छा धर्म के विरुद्ध जाती है वह अपदेवता है। काम का एक रूप धर्म के अविरुद्ध जाने वाला है दूसरा धर्म के विरुद्ध जाने वाला। पहला साक्षात् विष्णु रूप है। ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि जो आनन्द और चेतनामय रस से मन को भरता है प्राणियों के मन में स्मर या काम रूप से प्रतिफलित होता है और इस प्रकार अपने भवनों को जीतकर नित्य विराजमान है उस आदि पुरुष गोविन्द को मैं स्मरण करता हूँ (४६)। मत्स्यपुराण में कामनाम्ना हरेरर्चा कहकर बताया गया है कि वस्तुतः काम नामक हरि की ही पूजा की जाती है। इसलिए मन्दिर और मूर्ति बनाकर जिस देवता की पूजा की जाती है वह साक्षात् विष्णु ही हैं। श्री कृष्ण गायत्री और काम गायत्री में कोई फर्क

नहा है।

परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है जो व्यक्ति के विवेक को दवा देता है। पश्चिम म 'क्यिुपिद नामक दवता (या अपदेवता) को अधा माना गया है क्याकि वह विवेक को नष्ट करता है, मनुष्य को अधा बना देता है। शिव ने इसी मादक मदन देवता को भस्म किया था। उसके भावात्मक 'मनसिज रूप को बचा लिया था। यह आश्चय की बात है कि हमारे शास्त्रा म वार वनिताश्रा के लिए जिस मदन मूर्ति का विधान किया गया है उसकी आखा पर सोन के पत्तर की पट्टी बधवा दी जाती है! 'क्यिुपिद' दवता की तरह उस अधा ता नही कहा गया पर अधे-जसा बना अवश्य दिया गया है। हैमनन परावतम म पट्टी सोन की हाने पर भी दृष्टि शक्ति का अभाव तो हो ही जायगा। कामदेव वसत ऋतु का मित्र है। परन्तु कुमारसभव म वर्णित वसत अकाल का वसत है अस्वाभाविक, बलादानीत, अपदेवता! शिव ने इसी को नान के नेत्र उन्मीलित करके भस्म किया था।

शास्त्रा मे काम के वाण और धनुष फलो के बताय गये हैं। अरविंद अशोक आम नवमल्लिका और नीलोत्पल ये उसके पाच वाण हैं जिन्हे क्रमश उन्मादन तापन, शोषण स्तभन और सम्मोहन भी कहा गया है।

समार की लगभग सभी सभ्य आदिम जातिया म वसतकाल म उद्दाम यौवनोन्माद के उत्सव पाये जात हैं। कही-कही ये उत्सव बहुत ही स्थूल यौन वासना के रूप मे पाय जात है कहा सयत और सुरुचिपूण रूप म। प्राचीन भारत म इस उत्सव के उद्दाम रूप का सयत सुरुचिपूण और धर्माविरुद्ध देवता क रूप म सँवारन का सफल प्रयत्न किया गया था। अपेक्षाकृत निम्न स्तर के लागा म सदा वह सीमातिक्रमण करक प्रकट हाता रहा और दुर्भाग्यवश अब भी किसी न किसी रूप म जी रहा है परन्तु इस सहज उद्दाम लीला का शात, सयत और शिष्ट रूप म ढालन का प्रयत्न अवश्य ही श्लाघ्य माना जायगा। आदिम सहजात वत्तिया को सुरुचिपूण, सयत और कल्याणमुखी बनाकर ही मनुष्य मनुष्य बना है नही तो वह पशु ही रह गया होता। प्राचीन भारत के मदनात्सव म मनुष्य के इस प्रयत्नशील तत्व की ही चरितार्थता प्राप्त होती है।

से रानी वासवदत्ता की शरीर कान्ति और भी निखर आई थी वह कौसुंभ राग में रंजित साड़ी पहनकर जब अशोक वृक्ष के नीचे कामदेव की पूजा कर रही थी तो उसकी साड़ी का लाल पल्ला फड़फड़ा उठा था। उस समय राजा को ऐसा लगा था जैसे तरुण प्रवाल विटप की लता ही लहरा उठी हो—

> प्रत्यग्रमज्जनविशेष विविक्त कान्ति
> कौसुम्भरागरुचिरस्फुरदंशुकान्ता ।
> विभ्राजसे मकरकेतनमर्चयन्ती
> बालप्रवालविटपिप्रभवा लतेव ।

मालविकाग्नि मित्र से पता चलता है कि मदन देवता की पूजा के बाद ही अशोक में फूल खिला देने का अनुष्ठान होता था। रत्नावली में भी इसकी चर्चा है। इस अनुष्ठान का रूप इस प्रकार था—कोई सुंदरी सर्वाभरण भूषिता होकर पैरों को अलक्तकराग से रंजित करके नूपुर सहित बायें चरण से अशोक वृक्ष पर आघात करती थी। इधर नूपुरों की हल्की झनझनाहट उधर अशोक का सोल्लास कंधे पर से ही फूल उठना। साधारणत रानी यह कार्य करती थी। पर मालविकाग्निमित्र में बताया गया है कि उस रानी के पैरों में चोट आ गई थी इसलिए उन्होंने मालविका को भेज दिया था। मालविका अशोक वृक्ष के पास गई पल्लवों का गुच्छा हाथ से पकड़ा और बायें पैर से अशोक पर मृदु आघात किया। कालिदास की लेखनी ने इस मादक चित्र को अपूर्व गरिमा से भर दिया है।

परब्रह्म की उस मानसिक इच्छा को जो संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होती है मूलरूप ही काम है। जब यह सृष्टि रचना के अनुकूल होती है तो विष्णु और शिव का साक्षात रूप कही जाती है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि मैं जीवमात्र में धर्म के अविरुद्ध रहने वाला काम हूँ परन्तु जो व्यक्तिगत इच्छा धर्म के विरुद्ध जाती है वह अपरूपता है। काम का एक रूप धर्म के अविरुद्ध जाने वाला है दूसरा धर्म के विरुद्ध जाने वाला। पहला साक्षात विष्णु रूप है। ब्रह्मसंहिता में कहा गया है कि जो आनन्द और चेतनामय रस से मन को भरता है प्राणियों के मन में स्मर या काम रूप से प्रतिफलित होता है और इस प्रकार अपने भुवनों को जीतकर नित्य विराजमान है उस आदि पुरुष गोविन्द का मैं स्मरण करता हूँ (४६)। मत्स्यपुराण में कामनाम्ना हरेरर्चां कहकर बताया गया है कि वस्तुत काम नामक हरि की ही पूजा की जाती है। इसलिए मन्दिर और मूर्ति बनाकर जिस देवता की पूजा की जाती है वह साक्षात विष्णु ही हैं। श्री कृष्ण गायत्री और काम गायत्री में कोई फर्क

नहा है।

परन्तु इसका एक दूसरा रूप भी है जो व्यक्ति के विवक को दवा देता है। पश्चिम म क्यूपिड नामक दवता (या अपदेवता) को अधा माना गया है क्योकि वह विवक को नष्ट करता है मनुष्य को अधा बना देता है। शिव न इसी मादक मदन देवता को भस्म किया था। उसके भावात्मक 'मनसिज रूप को बचा लिया था। यह आश्चय की बात है कि हमारे शास्त्रो म वार-वनिताग्रा के लिए जिस मदन मूर्ति का विधान किया गया है, उसकी आँखो पर सोने के पत्तर की पट्टी बँधवा दी जाती है। 'क्यूपिद देवता की तरह उस अधा ता नही कहा गया पर अर्ध-जसा बना अवश्य दिया गया है। हैमनेत्र परावतम म पट्टी सोन की होने पर भी दृष्टि शक्ति का अभाव तो हो ही जायगा। कामदेव वसन्त ऋतु का मित्र है। परन्तु कुमारसम्भव म वर्णित वसत अकाल का वसत है, अस्वाभाविक, बलादानीत अपदेवता। शिव न इसी को ज्ञान के नेत्र उन्मीलित करके भस्म किया था।

शास्त्रो म काम के बाण और धनुष फलो के बताये गये हैं। अरविंद, अशोक, आम, नवमल्लिका और नीलोत्पल, य उसके पाँच बाण हैं जिन्हे क्रमश उन्मादन तापन, शोषण स्तभन और सम्मोहन भी कहा गया है।

ससार की लगभग सभी सभ्य आदिम जातियो म वसन्तकाल म उद्दाम यौवनोन्माद के उत्सव पाये जाते है। कही-कही ये उत्सव बहुत ही स्थूल यौन वासना क रूप म पाये जात हैं कहा सयत और सुरुचिपूण रूप म। प्राचीन भारत म इस उत्सव के उद्दाम रूप का सयत, सुरुचिपूण और धर्माविरुद्ध देवता के रूप म सँवारने का सफल प्रयत्न किया गया था। अपेक्षाकृत निम्न स्तर के लोगो म सदा वह सीमातिक्रमण करके प्रकट होता रहा और दुर्भाग्यवश अब भी किसी न किसी रूप म जी रहा है परन्तु इस सहज उद्दाम लीला को शात सयत और शिष्ट रूप म ढालन का प्रयत्न अवश्य ही श्लाघ्य माना जायगा। आदिम सहजात वृत्तियो को सुरुचिपूण सयत और कल्याणमुखी बनाकर ही मनुष्य मनुष्य बना है नही तो वह पशु ही रह गया होता। प्राचीन भारत के मदनोत्सव म मनुष्य के इस प्रयत्नशील तत्व की ही चरितार्थता प्राप्त होती है।

हिमालय [१]

रामायण और महाभारत हमारी सभ्यता और संस्कृति के अक्षय भण्डार हैं। इन ग्रंथों में देवतात्मा नगाधिराज हिमालय की चर्चा अनेक रूपों में पाई जाती है। इस पर्वत के प्रत्येक शिखर, प्रत्येक नदी प्रत्येक सरोवर के विषय में और उन के इर्द गिर्द रहने वाली जातियों के विषय में ब्योरेवार चर्चा है। ऐसा जान पडता है कि हमारे पूर्वज इन विषयों के संबंध में हम से कहीं अधिक स्पष्ट और सच्ची जानकारी रखते थे। यह भी जान पडता है कि भारतीय जनता—जिसे कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने महामानव समुद्र कहा है—इन हिमालय वासी लोगों के बहुतेरे वंशधरों को अपने भीतर आत्मसात कर चुकी है। हिमालय में बसने वाली जातियों के संबंध में महाभारत और रामायण में बडी प्रीति भावना का परिचय मिलता है। उन्हें देवयोनी का जीव माना गया है। उनके शील और कलाप्रियता की प्रशंसा की गई है उनके शौर्य की उच्छ्वसित प्रशंसा की गई है और म्लेच्छ असुर आदि विदेशियों की तुलना में अधिक धर्म परायण और आत्मीय समझा गया है। कभी-कभी इन जातियों के साथ मैदान के रहने वालों का संघर्ष भी बताया गया है पर अधिकतर ये जातियां सहायक और मित्र के रूप में चित्रित हैं। इन जातियों के वंशधर भारतीय मैदान में उच्च कुलीन क्षत्रिय राजवंश के रूप में सम्मानित हुए हैं और भारतीय धर्म और संस्कृति के पुरस्कर्ता और रक्षक बताये गए हैं। वस्तुतः हिमालय पर्वत की विभिन्न उपत्यकाओं में बसनेवाली जातियाँ सदा आत्मीय समझी गई हैं। इनके सम्बन्ध में जो बहुत सी पौराणिक लगनेवाली अनुश्रुतियाँ मिलती हैं वे कुछ तो उन्हीं जातियों में प्रचलित कथाओं का भारतीय रूपान्तर हैं और कुछ उनके प्रति प्रीतिभाव के अतिरेक के कारण गढ ली गई हैं। ज्यों ज्यों विद्वानों का अनु

सधान इस दिशा म अग्रसर होता जा रहा है, त्या-त्या हमारे पूवजा की जान कारी आश्चर्यचकित करनेवाली सिद्ध हो रही है।

रामायण की कथा अयोध्या स चलकर लका की ओर बढती है। स्वभावत वह भारत के मध्य देश और सुदूर दक्षिण के प्रदेशा से अधिक सम्बद्ध है। पर किसी-न किसी बहान हिमालय उसम आता ही रहता है। परन्तु महाभारत की कथा उत्तर भारत की कथा ही है। पश्चिम से पूव तक फले हुए हिमालय की चचा इस ग्रन्थ म अनेक बार आई है। वस्तुत चन्द्र वश की कहानी का आरम्भ ही हिमालय स होता है। पश्चिमी पूर्वी और मध्य हिमालय क स्थाना और जातियो का इसम बहुत विस्तत और विश्वसनीय विवरण प्राप्त होता है जो चीनी और अरबी यात्रिया के विवरणो और तत स्थाना स प्राप्त होने वाली परम्पराओ स विचित्र मेल रखता है। रामायण और महाभारत म हिमालय क उत्तर म स्थित देशा और जातिया की भी चर्चा है और आधुनिक अनुसधाना स सिद्ध हो रहा है कि विश्वसनीय भी है। दुर्भाग्यवश साधारण जनता अभी तक इन कहानिया को उचित ऐतिहासिक परिपाश्व म रखकर देखने की दृष्टि नही पा सकी है और या तो उन्ह दवताओ की कहानी मानती है या पौराणिको की कपोल कल्पना। ठीक ऐतिहासिक परिपाश्व म समझने का प्रयत्न किया जाए तो जान पडेगा कि हिमालय ने हम कितना दिया है। केवल नदिया और अन्य भौतिक समद्धिया के कारण ही हम उसे अपनी अमूल्य निधि नही मानते उसन भारतीय धम सस्कृति और जनता को अद्भुत ढग से प्रभावित किया है। वह हमारे अन्तर तर के साथ एकमेक है। वह हमारा प्रहरी नही है हमारी अन्तरात्मा का अभिन्न अग भी है। वह शिव पावती की विहार भूमि है नर-नारायण की तपो भूमि है यक्ष किन्नर गन्धव विद्या धरा का निवास है। सहस्र-सहस्र ऋषि मुनिया की आश्रम भूमि है गगा-यमुना-ब्रह्मपुत्र सिन्ध सरस्वती की उदगम भूमि है। इस छोटी सी वार्ता म नगाधिराज हिमालय की महिमा और हमारी सस्कृति स उसके अविच्छेद्य पवित्र सबधो का महत्व दिखाना असम्भव है। यहा कुछ थोडी सी बाता की चर्चा करके ही सन्तोष करना पडेगा।

भारतवष की सती नारिया का आदर सारा ससार करता है। क्या कारण है कि भारतीय नारी की मर्यादा उसका सतीत्व तेज और उत्तम चरित्र इतना लोकमानीय है? पावती और सीता का भुवनविश्रुत लोकभावन आदश। पावती तो नाम से ही प्रकट है कि पवत-कन्या है। हिमालय की पुत्री पावती का नाम ही नारी चरित्र की सम्पूण शोभा गरिमा माधुय और पवित्रता की याद दिलाता है। रामायण के बालकाड म बताया गया है कि हिमालय की दो

कन्या। —पार्वती और गंगा—जिस प्रकार इस पवित्र भारत भूमि को भीतर और बाहर से पवित्र कर रही हैं। यहीं यह भी बताया गया है कि जिस प्रकार गंगा की सात धाराएँ तीन पश्चिम की ओर तीन पूर्व की ओर और एक मध्य इस देश को पवित्र और समृद्ध बनाती हैं। गंगा वस्तुतः भारत की सभी नदियों का नाम है। मध्य देश की गंगा वह मूल स्रोत है जो भगीरथ राजा की अनन्य तपस्या से धरती पर उतरा है। हिमालय का महत्त्व किसी प्रकार भारतीय भूमि और भारतीय जनजीवन में कम नहीं की जा सकती। पार्वती का एक नाम उमा है जो उपनिषद् काल से ही प्रसिद्ध है। आधुनिक खोजों से पता चला है कि यह शब्द हिमालय पर्वतमाला यानी महान् नाग जाति की भाषा से आया है। कोई आश्चर्य नहीं कि कामरूप से गारो पार तक फैले हुए पर्वतीय प्रदेश में शक्तिभूता पार्वती देवी की उपासना का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। सारी हिमालय भूमि अनादि काल से शाक्त केन्द्र रही है। तपोनिरता कुमारी पार्वती ने अगस्त्य मुनि की प्रार्थना पर कैलाश से कुमारी अन्तरीप तक पद यात्रा की थी इसलिए पुराणों में भारतवर्ष की इस भूमि का नाम ही कुमारी का द्वीप बताया गया है और गर्वपूर्वक घोषणा की गई है कि तपोनिरता पार्वती के पवित्र पदसंचार से पावनीकृत इस भूमि में ही वर्ण-व्यवस्था है। इसके बाहर तो अन्त्यजों या बाद में उत्पन्न होनेवाले पिछड़े हुए असंस्कृत लोगों का निवास है। भास्कराचार्य ने पुराणों की सारी कथा का उपसंहार एक पंक्ति में कर दिया है—वर्णव्यवस्थितिरिहैव कुमारिकाख्ये शेषेषु चान्त्यजजना निवसन्ति सर्वे। इस प्रकार पार्वती और गंगा हमारे अस्तित्व का ही मेरुदण्ड हैं। हमारे भीतर और बाहर जो कुछ उत्तम है जो कुछ सुन्दर है जो कुछ पवित्र है उसको प्रतीक रूप में पार्वती और गंगा व्यक्त करती हैं।

और विदेहराज दुहिता सीता? रामायण और महाभारत दोनों में पतित पावनी सीता देवी का यश गाया गया है। कम लोग जानते हैं कि विदेह देश भारतीय मैदान तक ही सीमित नहीं था। आधुनिक खोजों से बौद्धग्रंथ के उस उल्लेख का समर्थन हुआ है जिसमें बताया गया है कि मेरु के पूर्व में पूर्व विदेह नामक देश था। डा० बुद्धप्रकाश ने हाल ही में पूर्व विदेह की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है। किष्किन्धाकाण्ड में सुग्रीव ने वानरों को सीता की खोज के लिये विभिन्न स्थानों में जाने को कहा था उसमें हिमालय के विभिन्न स्थानों और जातियों के नाम गिनाये हैं। उसमें यामुन पर्वत का उल्लेख है। लेवी पुराने अभिलेखों से इस नतीजे पर पहुँचे थे कि यामुन पर्वत [illegible] का रूप है। पुराना शब्द अमून था। अमून आधुनिक मुननाग का ही संस्कृत रूप है। यह आजकल

चीनी शासन के अन्तगत है। यही पूर्व विदेह था जिसे बाद में गान्धार कहा जाने लगा। फजलुल्लाह रसीदुद्दीन अबुलखैर ने इस कन्दाहार (पूर्वी गान्धार) को हिन्दू राज्य के रूप मे पाया था और इसका गज सेना की बडी प्रशंसा की थी। चीनी इतिहासकारो की गवाही से और वहा के ध्वंसावशेषो से भी इस बात का समर्थन होता है। ईसा मसीह के तीन सौ वर्ष से भी पहले से यह पूर्व विदेह चला आ रहा था। बारहवी शताब्दी तक इसका इतिहास अटूट रहा है। किसी जमाने में यह हिन्दू राज्य आसाम और मिथिला तक फैला हुआ था। रामायण मे विशाला नगरी (बाद की वैशाली) विदेह राजा विशाल द्वारा स्थापित बताई गई है। अमून या यामुन पर्वत के इर्द गिर्द बसा पूर्व विदेह (बाद में पूर्वगान्धार) सैकडो वर्ष तक मूलभूमि से विच्छिन्न होकर भी चीनी सेना का सफल प्रतिरोध करता रहा। यहा से अनेक बौद्ध लेखो और पगोडाओ का उद्धार हुआ है। हमारी गफलत से यह अति प्राचीन विदेह भूमि अपरिचित बन गई है। विदेह हिमालय के समूचे पूर्वी छोर के अधिकारी थे। हमारी संस्कृति की आदर्श प्रतिमा वैदेही विदेहराज की कन्या थी। चीनी सूत्रो से विदेह का मिथिला नाम भी मिल जाता है। इस प्रकार वैदेही सीता का संबंध भी हिमालय से जुडता है।

हिमालय की किरात जातियो का इतिहास भी महाभारत और रामायण से मिल जाता है। शिव के उपासक किरातो की चर्चा महाभारत मे बहुत है। किरातो और चीनो को महाभारत में साथ साथ गिनाया गया है। वस्तुतः चीनो को किरात ही भारतभूमि से अलग करते थे उनकी मध्यस्थता में ही चीनो का सम्पर्क भारतभूमि से होता था। ऐसा जान पडता है कि चीन लोग पूर्व सीमान्त (प्राग्ज्योतिषपुर) से ही भारत पहुँचते थे। उन्हें पूर्व की जातियो में ही गिना जाता था। उनके चीनांशुक या रेशम का काम भारतवर्ष में पसद किया जाता था और भारतीय सम्राटो के अभिषेक के समय चीनजाति के प्रतिनिधियो द्वारा भेंट किया जाता था। महाभारत में चीनो के साथ गान्धारो की जो चर्चा आती है वह कदाचित पूर्व विदेह के निवासी रहे है—यवना किराता गान्धाराश्चीरना बर्बरस्तथा (१२ ६५ १४)। वनपर्व में हिमालय के कोने कोने में बसनेवाली जातियो की चर्चा है। किरातो को महाभारत में नुकीली चोटी वाले सोने के रंग के कच्चा मांस और मछली खानेवाले और बहादुर बताया गया है। सभा पर्व में भी इसका उल्लेख है। इसी प्रकार तुषारो ऋचीको विद्याधरो किन्नरो, खस्त काम्बोजो आदि का विस्तारपूर्वक उल्लेख है। इनके साथ विवाह आदि के संबंधो की बडी रोचक कहानियां इन काव्यो में पाई जाती हैं। भारतीय महाजाति के निर्माण में, व्रत उपासना और धार्मिक चेतना

के निर्माण म इन जातिया की महत्त्वपूण देन है। भारतवप क महामानवसमुद्र को रूप देने म इन जातिया का बहुत महत्त्वपूण योग है। इनका सबध इस देश का आत्मीय सबध है। गन्धर्वो किन्नरो विद्याधरो और अन्य पावत्य जातियो की चर्चा से हमारे दोना महाकाव्य प्रखर हैं। इनका कला प्रेम सगीत प्रेम और अपेक्षाकृत स्वच्छद जीवन भारतीय सस्कृति का अभिन्न अग बन गए हैं। सगीत को तो गन्धववेद ही कह दिया गया ह। हिमालय के विभिन्न भागा म बसी हुई जातिया की परम्पराओ के सम्यक अध्ययन से हमारे इतिहास की अनेक गुत्थियो के सुलझन की आशा ह। इस समय आवश्यकता है सत्य जिज्ञासु विद्वान शोधको की। इस ओर अभी तक हमारे विद्वाना का यथोचित ध्यान नही गया ह। सरकार को भी इस दिशा मे अधिक प्रयत्नशील होना ह। हिमालय हमारी सस्कृति का ही नही हमारे अस्तित्व का भी मेरुदण्ड ह। इस विषय म हमारे पूवज जितने जागरूक थे उतन हम नही है।

हिमालय की महिमा अपार ह। उसे रामायण और महाभारत म अप्रधष्य माना गया ह। एक बार कलास को जीतने की दुराकाक्षा रावण के मन मे आई थी। उसने यक्षा और गधर्वो को जीतकर कलास पर जोर आजमाने की हिम्मत की थी। नदी के मना करने पर भी वह नही रुका। नन्दी ने कहा था—सर्वेस्वामेव भूतानामगम्य पवत इत —यह पवत सवभूत के लिय अगम्य बताया गया ह। रावण नही माना। उसने हिमालय के सर्वोत्तम श्रृग कलास का उठा लन की कोशिश की। क्षण भर के लिये कलास डगमगा गया। पर क्षण भर के लिय ही। महादेव ने अपने पादागुष्ठ से—पैर के अगूठ से उस दबाया और फिर त्रलोक्य काँप उठा। महादेव ने तो उसे गिडगिडाते देख माफ कर दिया पर नन्दी का शाप उसे खा गया। मदमत्त रावण को वानर भालुओ की सेना चाट गई। जिस किसी ने इस गिरिराज को मदमत्त होकर हिलाने का प्रयत्न किया उसी की यही दशा हुई ह। आज भी मदगर्वित सेनानियो को कहा जा सकता ह कि साव धान चट्टान पर सिर न मारो रावण की गति को न प्राप्त हो।

हिमालय देवभूमि ह। कालिदास न शिव स पावती के प्रति कहलवाया था—पितु प्रदश स्तव देवभूमय। तुम्हारे पिता (हिमालय) क प्रदेश देवभूमि ह। यह कवल पवित्रता क कारण ही नहा कहा गया ह। वस्तुत हिमालय से भारतवप को अनक प्रकार क रत्न प्राप्त हात रहे है। वाल्मीकि रामायण म हिमालय को धातुओ की खान कहा गया ह नगन्द्रो हिमवानाम धातूनामा करो महान (बालक ३६ १३) इसी बात को कालिदास न अनक रत्न प्रभव कहकर दोहराया ह। हमार पुरान ग्रन्था म हिमालय क विविध रत्ना क खाना

की चर्चा मिलती है। स्वय वाल्मीकि रामायण म जाम्बूनद (सोना), चांदी सीसा, ताम्वा काला लोहा आदि के मिलने की चर्चा है (वाल० ३७)।

इस प्रकार हिमालय हमारी भौतिक और आध्यात्मिक समृद्धि का उत्स माना जाता रहा है। हिमालय को भारतीय साहित्य और इतिहास स हटा दिया गया तो वह बहुत निष्प्राण हा जाएगा। हिमालय हमारा प्रहरी है, देवभूमि है, रत्नखानि ह इतिहास विधाता है, सस्कृति मेरदण्ड है।

हिमालय [२]

भारतीय साहित्य म हिमालय की बडी महिमा है। हिमालय को कविकुल गुर कालिदास ने देवतात्मा कहा है। भारतीय साहित्य इस देवतात्मा की महिमा स मुखर है। एक बार भारतवप के रक्षात्मक साहित्य स उन उप करणो को हटा दीजिए जो इस देवतात्मा नगाधिराज के प्रसाद रूप म हम प्राप्त हैं और देखिए कि वह कितना अकिंचन हो जाता है। आपको ऐमा करत समय हिमालय दुहिता पावती को खो देना पडेगा जो भारतीय नारी का आदश है सतीत्व की मर्यादा हैं, तपस्या का मूर्तिमान विग्रह है और पातिव्रत की विजयध्वजा हैं। आपको गगा को यमुना को सरयू को ब्रह्मपुत्र को और न जाने कितनी नदियो को भुला देना पडेगा जो हमारे जीवन को सरस पवित्र और आनन्दोल्लसित कर रही हैं अन्य गधव यक्ष किन्नर सिद्ध, विद्याधर और देवयोनि जात विचित्र रसपोषक तत्वो से वचित रह जायेंगे जो हमारे कवियो और कथाकारो को सरस अभिप्रायो को सुलभ किया करत हैं और उचित अवसरो पर विचित्र उपादानो से साहित्य और शिल्प को समृद्ध करत रहत हैं। तब आपक हाथ म रसहीन वचित्र्य-वचित एक ऐसा मरकान्तार रह जाएगा जहाँ मानसरोवर की धवल तरगो मे विलास करन वाल स्वण कमलो के कषाय अकुर को कुतरने वाल राज-हस लापता हैं कनककार स वषा काल को कोलाहल मुखर करनेवाल क्रौंच-युगलो का अभाव है अशिंचित नूपुर वाम चरणो के आघात मे शोकहीन मदरील स्तवको वाल अशोक पुष्प का चिह्न नही है और व सकडो महर्षि रत्न गायब हैं जो अलकरण को बहुमूल्य और प्रकरण को अमूल्य बना दत हैं। हिमालय क प्रसाद स वचित भारतीय साहित्य म काम्यक वन नही होगा, कनकपुरी गायब हो जायगी, कलास और

कामाख्या-पीठ निकल जाएँगे, कदलीवन लुप्त हो जायगा सौंदय शालीनता और सौकुमार्य के केंद्र तिरोहित हो जायेंगे। जिन तत्वों ने हमारे साहित्य को अपूर्व रस सामग्री से मंडित किया है और हमारे चित्त को अजाने उल्लास से अकारण कंपित आलोडित बनाया है वे हिमालय की कृपा से ही प्राप्त हैं। उनके अभाव में साहित्य नीरस हो जाएगा, शिल्प वीरान हो जाएगा, ललित कलाएँ विनाश बन जाएँगी।

कालिदास ने कहा है कि हिमालय पृथ्वी के मानदंड-समान स्थित है। मानदंड भी कैसा? पूर्व और पश्चिम समुद्र—महोदधि और रत्नाकर—को दोनों किनारों से अवगाहन करके विराजमान। हिमालय का यह बहुत ही उत्तम और सटीक परिचय है। भारतवर्ष की उत्तरी सीमा पर वह छाया हुआ है। एक ओर वह अरब समुद्र या रत्नाकर के उत्तरी तट का स्पर्श करता है और दूसरी ओर आसाम मणिपुर और त्रिपुरा को अपनी छत्रछाया में समेटता हुआ पूर्व समुद्र या महोदधि में निमज्जित होता है। इस प्रकार पृथ्वी को वह दो टुकड़ों में बाँट देता है। भारतीय विचारक इसे केवल जड़ धरित्री-खण्ड का विभाजन मात्र नहीं मानते। इस विराट मानदंड ने मनुष्य के शील और आचार विचार का भी स्पष्ट भेद कर डाला है। हिमालय रूपी मानदंड को यदि आधार मान लिया जाए तो एक त्रिकोण महादेश बनता है, जिसका शीर्ष बिंदु कुमारिका अन्तरीप है। इस त्रिकोण भू-खण्ड को कुमारिका खण्ड कहते हैं। प्रसिद्ध है कि जब हिमालय पर्वत की कन्या पार्वती शिव को वर रूप में प्राप्त करने के लिये कैलास पर विकट तपस्या कर रही थीं, उस समय सुदूर दक्षिण में अगम्य मुनि उनके पास पहुँचे और प्रार्थना की कि भगवति आपके पवित्र पदसंचार से हिमालय की यह देव भूमि पवित्र हो गई है परंतु मैदान और विंध्यशृंखला के दक्षिण के प्रदेश इन चरणों के स्पर्श से वंचित रह गए हैं। तपोनिरता कुमारी पार्वती ने अगस्त्य की प्रार्थना स्वीकार की और उसी अवस्था में नीचे की भूमि में उतर आईं। कुछ दिनों तक इस त्रिकोण के अंतिम छोर पर उन्होंने तप भी किया। उनके पवित्र चरणों से वह सारी त्रिकोण भूमि पवित्र हो गई। यहाँ के स्त्री-पुरुष तप की महिमा के कायल हुए इनमें शील और आचार धर्म की प्रतिष्ठा हुई। इसीलिए त्रिकोण भूमि—आज का भारतवर्ष—कुमारिका खण्ड कहलाया। इसलिए, सिर्फ इसी पवित्र भूमि में वर्ण-व्यवस्था विशुद्ध रूप में प्राप्त होती है। जहाँ हिमालय-दुहिता कुमारी पार्वती के पवित्र चरण नहीं गये वहाँ वर्णाश्रम धर्म और उसकी महत्त्वपूर्ण परम्परा भी नहीं चल पाई। उन्हीं चरणों के स्पर्श का यह फल है कि इस कुमारिका खण्ड में शील

और आचार की मर्यादा को महत्व प्राप्त हुआ। जो वचित रह गय सो रह ही गये।

स्पष्ट ही इस कथा म यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि हिमालय की ही यह देन है कि यह देश ससार के अन्य देशो की तुलना म शील और आचार क मामल म विशिष्ट हो गया है यह मनुष्य के जन्म और कम की—पुनजन्म और कम फल की स्वीकृत महिमा है। जो जसा करता है उसका फल उस भोगना पडता है। इस कठिन नियम से देवता भी परित्राण नही पा सकत। सचमुच ही हिमालय ने केवल इस देश के मदाना को ही शस्य श्यामल नहीं बनाया है केवल इसकी भौतिक सम्पत्ति को ही रत्नो और महौषधियो से समृद्ध नहीं बनाया है बल्कि इसके अन्तरतर को भी प्रभावित किया है। इस नगाधिराज को पथ्वी का मानदड कहना उचित ही हुआ है।

इस अन्तरतर का प्रभावित करने का ही यह परिणाम है कि भारतवष न शिल्प-साहित्य और दशन के क्षेत्र म ऐसा बेजोड वाड मय दिया है जो सब प्रकार स उसका अपना है। हमारे सहस्रा वष के इतिहास म जो काव्य नाटक कथा आख्यायिका इतिहास पुराण और दशन लिखे गय हैं उनका मूल स्वर जन्म और कम के विशिष्ट सिद्धान्ता से प्रभावित है। ऊपरी विभेदो और वचित्र्या के रहत हुए भी उनम एक ऐसा सवमान्य सूत्र प्रात है कि मामूली ढग स विचार करनेवाला भी आसानी से कह सकता है कि यह वस्तु भारतीय है और यह भारतीय नहीं है। भारतीय काव्य नाटक सगीत नत्य आदि ललित मनोहर शिल्प कलामवासो शिव और उनकी चिरसगिनी हिमालय-दुहिता पावना क ऋणी है। फिर बचा क्या है जो यहाँ स प्रेरित और चालित न हो?

हिमालय भारतीय साहित्य क उस महान सदश की प्रेरणा भूमि है जो भोग नहीं त्याग देता है जड शरीर विकारो को नहीं अतरतर की ऊध्वमुखी शम भावना का प्रतिष्ठित करता है मानमपटल पर उत्थित होनेवाली चचल तरग माला को नहीं, गुहाहित गह्वरेष्ठ तत्व की अविचल स्थिति का गुणगान करता है। इस महिमामय जीवन दशन का किसी समृद्धशाली नगर की शान शौकत म प्रेरणा नहीं मिली है। मिली है तो हिमालय की कन्दराओ और दरी गुहाओ म तपानिरत ऋषियो स। हिमालय म विराजमान मन्दाकिनी क सीकर निर्झरो को गोद म पलनेवाले आश्रम देवदारु द्रुम मजरियो की सुरभि स मिश्र सरिताओ क तट प्रान्त और निस्तब्ध भाव स विचरण करनेवाले कृष्णसार मृगो स अध्युषित तपोवन हमारे समग्र रसमय मथनि क प्रेरणास्रोत हैं। सन्ध्या कहीं म न क । र भारतीय साहित्य शिल्प नृत्य, गीत नाटक,

अभिनय आदि को प्रेरित, चालित और आन्दोलित किया है।

हिमालय केवल पृथ्वी का मानदंड ही नहीं है, वह हमारी अनादि काल से चली आती हुई सांस्कृतिक परम्परा की उत्स भूमि है, भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, महान है, गौरवास्पद है, उसका आश्रय है। हिमालय-हीन भारतवर्ष उसी प्रकार हो जाएगा जैसा मस्तिष्कहीन मनुष्य। हिमालय हमारा अविच्छेद्य अंग है ऐसा अंग जो हमारी समस्त सत्ता का भण्डार संचित रखे है।

कालिदास ने एक जगह हिमालय की बर्फीली चोटियों को आनन्द मत्त महादेव का पुंजीभूत अट्टहास कहा है। आनन्द विह्वल महादेव का पुंजीभूत अट्टहास आनन्दोल्लसित मंगलमय देवता का हर्षोल्लास न होता तो गंगा और यमुना की धारा भी नहीं होती, भारतवर्ष का अद्वितीय शस्य श्यामल मैदान भी नहीं होता और इस देश के नरनारियों के चित्त में उल्लसित होनेवाली महिमा भी नहीं रहेगी।

हिमालय है, सदा रहेगा, हमारा रहेगा, क्योंकि वह है इसलिए हम हैं हमारी देवतात्मा संस्कृति है।

निरुत्तर हो जाता । इस बार गुरुजी के मन की, उनका नाम लिए बिना आलोचना कर दी । लेख लिखा पूरे उत्साह से, किन्तु भेजने का समय आया तो मन काँप उठा । गुरुजी पढ़ेंगे तो क्या कहेंगे । फिर सोचा गुरुजी तो जानते ही हैं, बहुत होगा डाँट देंगे । उनसे क्षमा माँग लेना तो बड़ा ही आसान काम था । मगर सत्य बात कह देनी चाहिए । उन दिनों नया जोश था । समझता था, जो मुझे सत्य मालूम होता है वही सारी दुनिया का सत्य है । गुरुजी की बात बहुत समझ में आई । उन्होंने कहा था 'बाद में समुझि जइबे' अब थोड़ा थोड़ा समझने लगा हूँ । लेख लिख गया था उसे छपना भी चाहिए । सो भेजने का निश्चय किया । लेखक का नाम था—व्योमकेश शास्त्री । पता ठिकाना कुछ नहीं । यह माधवजी को भी चकमा देने का प्रयास था । लेख भेज दिया । छप गया । मैं प्रसन्न हुआ कि किसी को पता नहीं लगा, उधर विधाता कुटिल हँसी हँस रहे थे— छिपते हो ? छिपना क्या इतना आसान है !'

बाद की घटना बड़ी मजेदार है । एक दिन शांतिनिकेतन का डाकिया एक बड़ा-सा बण्डल (रजिस्टर्ड पार्सल) लिए व्योमकेश शास्त्री का पता पूछते मेरे पास पहुँचा । मैंने कहा, 'यहीं रहते हैं दे जाओ । पार्सल ले लिया । व्योमकेश शास्त्री तो प्रथम बार सनातन धर्म में अवतरित हुए थे उनके नाम यह भारी पोथा कहाँ से आ गया ? मैंने उत्सुकतापूर्वक बण्डल खोला । एक बड़ा पोथा था—इन्दौर की पचांग समिति की रिपोर्ट जो बहुत ही उपयोगी पुस्तक थी । आज भी मैं उस पुस्तक को उपयोग में लाता हूँ । कुछ और छोटी छपी पुस्तिकाएँ थीं और साथ में प्रसिद्ध पचांग निर्माता प० दीनानाथ शास्त्री चुलैट का पत्र था । वे इन्दौर के महाराजा के ज्योतिषी थे और वहीं से पचांग प्रकाशित करते थे । एक बार मैं उनसे मिल भी चुका था । उन्होंने व्योमकेश शास्त्री को सम्बोधित करके लिखा था कि 'सनातन धर्म में प्रकाशित लेख से वे बहुत प्रभावित हुए हैं । उसमें जो मत प्रकाशित हुआ है वह लगभग ज्यों का त्यों उनका भी मत है । इन्दौर में एक अखिल भारतीय ज्योतिष सम्मेलन का आयोजन किया गया है । पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने सभापति पद स्वीकार कर लिया है । पचांग समिति ने देश के सभी पचांग निर्माताओं को निमन्त्रित किया है । उद्देश्य है सारे भारत में एक ही पद्धति का पचांग निकालने वाला मार्ग खोजना । ग्यारह विद्वानों की एक निर्णायक समिति बनाई गई है उसमें बगाल के प्रतिनिधि व्योमकेश शास्त्री को रखा गया है । प० दीनानाथ शास्त्री ने बड़े आग्रह से लिखा था कि आप अवश्य पधारें ।

मैं हैरान ! मालवीयजी महाराज सभापति होंगे पचांग निर्माताओं में

अपने अपने पक्ष की स्थापना के लिए निमन्त्रित विद्वानों में गुरुजी भी रहेंगे और यह अधन्य 'व्योमकेश शास्त्री' निर्णायक समिति में फैसला सुनाने के लिए विराजमान रहेगा। ऐसी अनहोनी भी कभी हुई है! जरूर माधवजी ने भण्डाफोड़ किया है। मगर बाद में माधवजी से मालूम हुआ कि वे भी नहीं पहचान सके थे कि व्योमकेश शास्त्री और हजारीप्रसाद द्विवेदी एक ही हैं। *बुकपोस्ट पर शान्तिनिकेतन के डाकघर का ठप्पा देखकर उन्होंने दीनानाथ* शास्त्री को बता दिया था कि यह कोई शान्तिनिकेतन का महापण्डित है! मैं सोच में पड़ गया। मालवीयजी भी जान जायेंगे गुरुजी भी जान जायेंगे कि उन्हीं के पत्र में उन्हीं का लड़का उन्हीं की आलोचना कर रहा है। हाय धरती फटती क्यों नहीं! मुझे बड़ी ग्लानि हुई। पं० दीनानाथ शास्त्रीजी को सच्ची बात लिख दी। 'मैं बंगाल का प्रतिनिधि नहीं हो सकता। मैं व्योमकेश शास्त्री नहीं हूँ ठूठ हजारीप्रसाद हूं। मुझे वहां न बुलाइए। निर्णायक कोई वृद्ध विद्वान हों तो शोभा देगा। मैं कैसे निर्णायक बन सकता हूं।' पं० दीनानाथ शास्त्री ने मेरा नाम जाना तो और भी प्रसन्न हुए। बोले 'तुम्हें तो मैं नहीं छोड़ूंगा। आना ही पड़ेगा। सत्य कहने से डरते हो? कैसे नौजवान हो?' हाय राम! नौजवान होना दोष ही है।

पूरा दिन उधेड़-बुन में बीता। यह कैसे अस्वीकार करूँ कि सत्य कहने में नौजवान को नहीं डरना चाहिए। उन दिनों सारे देश में उथल पुथल थी। नौजवान की स्तुति में उन दिनों जितना लिखा गया उतना कदाचित् कभी नहीं लिखा गया था। वे सिर पर कफन बांधकर चलते हैं वे हंसते हँसते फांसी के तख्ते पर झूल जाते हैं उनके रक्त से धरती पवित्र होती है और जाने क्या-क्या। सो मैंने शास्त्रीजी को लिखा—अवश्य आऊँगा। सत्य कहने में क्या डर है! शास्त्रीजी प्रसन्न हुए। इधर नाड़ी सूखने की प्रक्रिया तेजी से बढ़ने लगी। निर्णायक समिति में व्योमकेश शास्त्री के स्थान पर हजारीप्रसाद द्विवेदी का नाम छपा। मान का भूखा चित्त चंचल हुआ। चलो देखा जायगा।

जैसे-जैसे सम्मेलन के दिन निकट आते गये धुकधुकी बढ़ती गई। गुरुजी क्या कहेंगे मालवीयजी क्या सोचेंगे?

इन्दौर जाने के दिन से दो दिन पूर्व मेरी बेचैनी बढ़ गयी। नौ बजे दिन को मैं बहुत व्याकुल हुआ। एकाएक बात सूझ गई। क्यों न गुरुदेव से सलाह ली जाय! तुरंत चल पड़ा। एकदम उनके द्वार पर ही पहुँचकर रुका। संयोग की बात कि वे उस समय उत्तरायण के बरामदे में अकेले चुपचाप बैठे थे।

मुझे देखते ही स्नेहसिक्त स्वर म बोले 'एशो अर्थात् आओ। मैं इतनी जल्दी उनसे मिलने की आशा लेकर नही आया था। प्रणाम करके एक ओर वठ गया। गुरुदेव न मेरी ओर देखा अत्यन्त वत्सल भाव म। फिर बोले, "कुछ चिन्तित जान पडते हो। क्या बात है?" अब सोचने विचारने का अवसर ही नही रहा। सारी बात ज्यो-की त्या सुना दी। अपनी दुविधा और सकोच की बात कही और अपनी पुस्तकी बगला भाषा मे उपसहार करते हुए कहा, 'मूखता से धम-सकट पदा कर लिया है अब आपकी सलाह मागने आया हूँ। जाऊ या न जाऊँ। जाने को कह चुका हू। गुरुदेव ने क्षण भर मेरी आँखो म चुपचाप दखा। भगवान जाने उन्होने क्या पढा उनमे। फिर सहज भाव से कहा न जाओ। तुम म सत्य के प्रति जितनी आस्था है उससे कही अधिक भय और सकोच है। भय और सकोच तुम्हें सत्य का पक्ष नही लेने देंगे।' मैं सिहर उठा। हाथ जोडकर चुपचाप उनकी ओर ताकता रहा। वे कुछ देर मौन रहे फिर बाले, 'सत्य बडा महसूल चाहता है। तुमने अपना नाम छिपाया वही से तुम गलत रास्त पर चल पडे। देखो जब किसी की प्रतिकूल आलोचना करनी हो तो नाम मत छिपाया करो। नाम छिपाना पहली कमजोरी है। फिर वह और कमजोरिया को खीचती जाती है। नाम छिपाना भी सत्य को छिपाना ही है।

मुझे लगा कि गुरुदेव न मेरे अन्तर तक वेध दिया है। मैंने जल्दी-जल्दी उठने का उपक्रम किया और उनकी ओर ताके बिना ही कहा तो फिर यही माना है? उत्तर मिला, हा। मैं उठने लगा तो जरा जोर मे बोले, 'बठो। बठना पडा। फिर उन्होंने पचागो के बारे म मैंने क्या लिखा है यह पूछा और देर तक उस सम्बन्ध म बात करते रहे। मुझे लगा कि वे अब मरे घाव पर अमृत लेपने का प्रयास कर रहे हैं। बडे ही कोमल हृदय के थे। बोले 'मुझे प्रसन्नता है कि तुम ठीक ढग से सोच रहे हो। पर डरा न करो। जो ठीक समझो खुल के कहो। मालूम हो कि तुमने गलती की तो तुरन्त सुधार लो। सत्य अपना पूरा दाम चाहता है।'

गुरुदेव के यहाँ से लौटकर मैंने तार दे दिया, 'नहो आ सकूगा। क्षमा करें।'

बात खत्म हो गई। मन का एक बोझ उतरा। दूसरा अभी बाकी था। गुरुजी तो जान ही गय होगे क्या सोचते हागे। सोचा क्षमा माँग लू। मज मून बनाया, काटा फिर लिखा। पत्र ठीक बन नही पा रहा था। इतन म गुरुजी का पत्र आ गया। लिखा था 'तू इन्दौर क्या नही गया? मैं तो उस

दिन अपनी विद्या सफल मानता जिस दिन मुझे निर्णायक की गद्दी पर बैठा देखता।

आँखों में आँसू आ गये। इतने महान् गुरु का शिष्य हूँ मैं। दौड़ा-दौड़ा फिर गुरुदेव के पास पहुँचा। उन्हें पत्र दिखाया। उन्हें भी बड़ा आनन्द अनुभव हुआ। बोले तुम्हारे गुरु सच्चे गुरु हैं। उनकी महत्ता देखकर मैं मुग्ध हूँ। मुझे लगा कि मैं किसी जादू से बहुत-बहुत बड़ा हो गया हूँ। आज मेरे दोनों सच्चे गुरु इहलोक त्याग चुके हैं। सोचता हूँ ऐसे गुरु की शिष्यता प्राप्त करनेवाले मेरे जैसे भाग्यवान कितने हैं!''

भारत की समन्वय साधना
धर्म और दर्शन के क्षेत्र मे

भारतवप के धार्मिक और दाशनिक क्षेत्रा की साधना का इतिहास बहुत प्राचीन है। प्रागतिहासिक काल से लेकर आज तक न जाने कितनी साधनाए उद्भूत हुइ है कितने दार्शनिक मता का उदय हुआ है और कितने सामाजिक सग ठन उदभूत हुए हैं। सब हमेशा के लिए प्रमुख स्थान अधिकार नही कर सके पर सबने विशाल भारत धम क निर्माण म कुछ न-कुछ यागदान दिया है। वदिक, बौद्ध जन कापालिक पाशुपत शाक्त, शव वैष्णव आदि अनेक धार्मिक साधनाएँ किसी समय देश भर म, या देश क किसी विशेष भाग म अत्यन्त प्रवल थी, पर बाद म उनम उतार भी आया और अय मतों को आश्रय करके नय सिरे से उठने का प्रयास भी दिखाई दिया। कई साधनाएँ नाम और रूप बदलकर अब तक जीती चली आ रही है।

भारतवप का इतिहास अन्य देशा से कुछ विचित्र रहा है। सम्यता के उप काल से लेकर आधुनिक काल क आरम्भ तक हमारे देश म विभिन मानव समूहा की धारा बराबर चली आ रही है। इसम सम्य, अद्धसम्य और ववर श्रेणी के मनुष्य रहे है। भारतीय मनीषी शुरू से ही मनुष्य के बहुविध विश्वासा और मता को जानने का अवसर पाते रहे है। इसीलिए यहा धम विज्ञान (थियालाजी) और तत्त्व जिज्ञासा (फिलासफी) कभी भी परस्पर विरोधी शास्त्र नहीं बन पाय। कुछ पश्चिमी आलाचका ने ता यहाँ तक कहा है कि भारतवप म विशुद्ध तत्त्व जिज्ञासा या फिलासफी नामक शास्त्र बना ही नही। दशन शाद का अथ ही देखना है। दशन एसे आचार्यों का दृष्ट सत्य हो ह सकता है जो सब प्रकार स आप्त है—भय, लोभ या काम से कभी विचलित

न होने वाला प्राप्त होता है। उसकी भावपूर्ण दृष्टि में जो देखा जाता है उसी को दर्शन कहते हैं। फिलासफी के मूल में सन्देह होता है। दर्शन के मूल में शुद्ध और सम्यक दृष्टि। भारतीय मनीषियों ने दोनों का उचित सामंजस्य किया है। यह सामंजस्य या संगति लाना भारतीय मनीषा की बड़ी भारी देन है। हर धर्म साधना के तीन पक्ष होते हैं—उसके पीछे काम करनेवाला तत्त्व-मीमांसा (दर्शन) उसको सरस रूप में उपस्थित करनेवाला वाङ्मय (काव्य) और उसे जीवन के व्यवहार के क्षेत्र में ले आने के लिए तत्त्वानुयायी कर्मकाण्ड (क्रिया)। ये तीनों ज्ञान इच्छा और क्रिया के प्रतिपादक होते हैं। धर्म-साधना में इन तीनों का अन्तर्भाव होता है। समस्त भारतीय धर्म-साधना में इन तीन पक्षों को खोजा जा सकता है।

अभी कहा गया है कि दर्शन का अर्थ देखना है। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह है कि 'दर्शन' नामक शास्त्र कुछ सिद्ध महात्माओं के देखे हुए (साक्षात्कृत) सत्यों का प्रतिपादन करते हैं। यह देखना तब वास्तविक होगा जब केवल इन्द्रिय द्वारा या प्राण द्वारा या मन द्वारा या यहाँ तक कि बुद्धि द्वारा भी दिखाई देने वाले स्थूल विषयों को पीछे छोड़कर इनसे परे इनसे सूक्ष्म चिन्तन द्वारा साक्षात्कृत हो। इसी को स्वसंवेद्य ज्ञान कहते हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति जो कुछ अनुभव करता है या देखता है वह सत्य है। सारे भारतीय दर्शन मानते हैं कि शरीर और मन की शुद्धि आवश्यक है। इन्द्रिय बाह्य करण हैं वे बाहरी सत्ता को अन्तर में से उतारने के साधन हैं। आन्तरिक इन्द्रिय मन बुद्धि अन्तःकरण हैं इनसे हम बाहरी सत्ता से गृहीत इन्द्रियार्थ को जोड़ते हैं। गलत से सही को अलग करते हैं और बाह्यकरणों को यथा दृष्ट दिशा में नियुक्त करते हैं। परन्तु बाह्यकरण हों या अन्तःकरण दोनों ही साधन हैं। करण का अर्थ ही साधन है। इनसे काम करानेवाला मालिक कोई और है वह चैतन्य है। इसीलिए ठीक-ठीक जानकारी के लिए बाह्यकरण और अन्तःकरण दोनों ही की शुद्धि आवश्यक है। जब तक मनुष्य के भीतर और बाहर दोनों ही शुद्ध निर्मल और पवित्र नहीं होते तब तक वह गलत बात को सही समझने की गलती कर सकता है। यह जो बाह्य और अन्तःकरण की शुद्धि है वह सम्पूर्ण भारतीय धर्म साधनाओं में आवश्यक बात मानी गई है। इस विचार ने विरुद्ध दिशागामी विचारों को एक सूत्र में बाँधने का काम किया है। इसीलिए धर्म को इस देश में आचार से इतना घनिष्ठ भाव से जोड़ दिया गया है। मनुस्मृति के आरम्भ में ही धर्म की परिभाषा में कहा गया है कि धर्म वह है जो जानकार सच्चे, रागद्वेषहीन व्यक्तियों द्वारा सेवित या

आचरित होता है— विद्वद्भि सेवित सदभि नित्यमद्वेष्रानिभि । जस-तसे रह-कर जसा-तसा सोचकर बडे सत्य को अनुभव नहीं किया जा सकता । चचल मन क्वल गलत ढग की बात सोचने मे लगा रहता है। इस चचलता को दूर करने के लिए इस देश के मनीषियो न जो उपायादि बनाए हैं, उनकी समष्टि का नाम योग है । भगवान श्रीकृष्ण ने गीता म बताया है कि इस चचल चित्त को अभ्यास और वराग्य से ही वश मे किया जा सकता है। समस्त भारतीय धम-साधनाएँ और दशन अभ्यास और वैराग्य पर बल देते हैं। योग द्वारा स्थिरीकृत चित्त सवम आवश्यक माना गया है। ऊपर ऊपर से अभ्यास और वराग्य को रूपायित करनेवाली पद्धतियो म वविध्य है, पर यह सभी मानत हैं कि इनका होना आवश्यक है। इस विश्वास ने ऊपर से विरुद्ध दिखनेवाल मता म भी पारम्परिक श्रद्धा भाव उत्पन्न किया है और समन्वय का माग प्रशस्त किया है।

पुराकाल स अनेकों जातिया कबीलों नस्लो और घुमक्कड खानाबदोशो के दल-के दल इस देश म आत रहे हैं। कुछ देर क लिए उन्होंने देश के वातावरण का विक्षुब्ध बनाया है। पर अन्त तक व पराए नहीं रह सके हैं। उनके देवता भी तंतीस करोड सिंहासनो म से किसी एक को दखल करके बठ जात रहे और पुराने दवताओं के समान ही श्रद्धाभाजन बन जात रहे हैं और कभी-कभी तो अधिक श्रद्धा के भी अधिकारी सिद्ध हुए हैं। भारतीय सस्कृति की कुछ एसी विशेषता रही है कि समागत कबीला नस्ला और जातिया की भीतरी समाज व्यवस्था और धममत म किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया गया और फिर भी उन्हें सम्पूण रूप से भारतीय बना लिया गया। भारतीय सस्कृति इतने अतिथियो को जो अपना सकी है उसका एक कारण यह था कि उसकी धम-साधना शुरू से ही वैयक्तिक रही है। प्रत्येक व्यक्ति अपने किए का जिम्मेदार आप है। श्रेष्ठता की निशानी किसी धममत को मानना या देव विशेष की पूजा करना नहीं है बल्कि आचार शुद्धि और चारित्र्य है। यदि कोई अपने कुल धम का पालन म दृढ है चरित्र स शुद्ध है दूसरी जाति या व्यक्ति के आचरण की नकल नहीं करता, बल्कि स्वधम म मर जाने को ही श्रेयस्कर समझता है ईमानदार है सत्यवादी है तो वह निश्चय ही श्रेष्ठ है, फिर चाहे वह शूद्र हो या ब्राह्मण शव हो या वैष्णव हो। कुलीनता पूव-जन्म क कर्मों का फल है चारित्र्य इस जन्म के कर्मों का प्रकाशक है। देवता किसी एक जाति की सम्पत्ति नहीं होता, वह सबकी पूजा पाने का अधिकारी है। पर यदि स्वय देवता ही चाहता हो कि वह किसी विशेष जाति का ही पूजा ग्रहण करेगा तो भारतीय सस्कृति

को इसम भी एतराज नहीं । राहु देवता अगर डोमो को लिए दान स ही प्रसन्न होते हैं तो यही सही । ब्राह्मण भी डोम का दान देकर ही उन्हें प्रसन्न करेगा। इन विश्वासो न एक विचित्र प्रकार की सहनशीलता सौन्दर्य और समवादी दृष्टि उत्पन्न की है । इसी विश्वास ने सब जगह स और सब जातियो से उत्तम आचार विचार को सग्रह करने और उन्हें यथावसर, यथास्थान सजाने की समन्वय बुद्धि को प्रतिष्ठित किया है।

भारतीय इतिहास म इसलाम का आगमन एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना थी । शुरू-शुरू म ऐसा लगा कि उसकी मूल भावनाओ स स्थानीय भावनाओ का मेल नहीं बठेगा । पर धीरे धीरे भारतीय मनीषा न उसके साथ भी एक समझौता किया । दोनो धर्मों के मूल तत्त्वो को खोज निकाला गया और मध्य काल के सन्तो ने दोनो के भीतर सेतु निर्माण करनेवाले साहित्य की रचना की। उत्सव, मत्र पोशाक सहन बातचीत रीति रस्म क भीतर स दोनो एक-दूसरे क निकट आने लगे । दोनो के भीतर मिलानेवाले आध्यात्मिक तत्त्वो को ढूढ निकाला गया। अग्रेजो के आने स पूर्व भारतीय मनीषा बहुत कुछ एकत्व की खोज कर चुकी थी पर बाद म उसे झटका लगा। शीघ्र ही भारतीय मनीषी, जिनम गाधीजी प्रमुख थ नए मिलन मार्ग को प्राप्त करने म समर्थ हुए। बार-बार झटके खाने के बाद भी यह प्रक्रिया अपना काम किये जा रही है।

भारतीय मनीषियो की समन्वय साधना का मुकाबला इतिहास की किसी संस्कृति स शायद ही किया जा सके। दर्शन और धर्म के क्षेत्र म उसने मिलन भूमि प्राप्त करने म अद्भुत कुशलता का परिचय दिया है।

प्राचीन ज्योतिष

आज हम यह विचार करना है कि भारतीय संस्कृति म प्राचीन ज्योतिष का क्या स्थान था। हमारी सभ्यता के प्रधान उत्स वेद हैं। यद्यपि आज के भारत वर्ष को बनाने म ऐसी अनेक सांस्कृतिक धाराएँ काम करती रही हैं जिनका वेदों से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता तथापि मुख्य धारा वैदिक ही रही है। वैदिक सभ्यता के केन्द्र म यज्ञ-याग हैं। ये यज्ञ-याग ही इस देश म ज्योतिष के अध्ययन के मूल कारण हैं। विशेष विशेष यज्ञों के लिए समय का निश्चय करना बहुत आवश्यक था। गणित ज्योतिष के सबसे प्राचीन ग्रंथ लगधमुनि प्रणीत वेदांग ज्योतिष के अन्त म लिखा है कि वेद यज्ञ के लिए अभिप्रवृत्त हुए हैं और यज्ञों का विधान समय के अनुसार हुआ है। इसीलिए काल का विधान करने वाले इस ज्योतिष शास्त्र को जो जानता है वस्तुतः वही यज्ञों को जानता है। इस प्रकार यज्ञों का काल निर्णय करने के लिए गणित ज्योतिष की प्रतिष्ठा हुई। इसे ६ वेदांगों म स्थान मिला। रूपक की भाषा म शास्त्रकारों ने इसे वेद पुरुष की आँख कहा है। मध्य युग के अंतिम श्रेष्ठ ज्योतिषी भास्कराचार्य ने कहा था कि चूँकि यह शास्त्र वेद की आँख है इस-लिए यह सब अंगों म श्रेष्ठ है वेदचक्षुः किलेदं स्मृतज्योतिषं मुख्यता चांग मध्येऽस्य तेनोच्यते। यज्ञ की वेदियों के निर्माण के लिए ही शुल्व सूत्रों की विद्या ज्यामितिशास्त्र का उदय हुआ जो धीरे धीरे संसार भर की सभ्यता को गति देने मे कारण बनी। एक बार आधुनिक सभ्यता के मूल से रेखागणित को हटाकर देखिए कि हमारी आधुनिक सभ्यता की क्या गति होती है। बड़े-बड़े शहर भहरा जाएँगे। ज्यामिति के अभाव म एक भी मकान नहीं बन सकेगा, एक भी सड़क ठीक ठीक नहीं बनाई जा सकेगी। गणित म भारतीयों की देन विश्व

विदित है। यह जो पहाड़ों की गुणाभाग पद्धति है यह भारतीय सभ्यता की ही देन मानी जाती है। शायद अगर गणित में यदि यह दहाई दहाई गणना का ढंग न चल पड़ा होता तो गणित शास्त्र की क्या गति होती। मामूली जोड़ घटाना गुणा भाग भी ठीक से न हो पाता। इस दृष्टि से देखें तो भारतीय ज्योतिष संसार की महान मानव-सभ्यता के मूल में है। ग्रहों के शुभाशुभ फलों की जानकारी की दृष्टि से ही उस गहन शास्त्र और प्रकृति निरीक्षण विद्या का सूत्रपात हुआ जो आज परिणत अवस्था में अनेक शास्त्रों के बीज हैं। निस्सन्देह मनुष्य की सभ्यता की प्रगति के मूल में हमारे देश के मनीषियों के ये बड़े बड़े आविष्कार हैं।

प्राचीन ज्योतिष को सुप्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने तीन स्कन्धों में विभाजित किया था—तन्त्र संहिता और होरा। तन्त्र में पाटीगणित (एरिथमेटिक) बीजगणित (अलजब्रा) ग्रहगणित (मथमेटिकल एस्ट्रानामी) गोल (स्फेरिकल एस्ट्रानामी) और करण (प्रेक्टिकल एस्ट्रानामी) सम्मिलित हैं। संहिता में नाना प्रकार की प्राकृत घटनाओं के कारणों की चर्चा होती है और उन लक्षणों को बताया जाता है जिन्हें देखकर इन प्राकृतिक व्यापारों का अन्दाजा लग सके। और होराशास्त्र में जन्म के समय के ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति से भविष्य फल बताया जाता है। अंग्रेजी में जिसे एस्ट्रालाजी कहते हैं वह होरा शास्त्र ही है। मगर भारतीय फलित शास्त्र में होरा के अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें हैं।

ज्योतिष का भारतीय जीवन से कितना गहरा सम्बन्ध है इस बात को ठीक-ठीक अनुभव करने के लिए एक बार उन कामों की ओर दृष्टि डालिए जो ज्योतिषी की सलाह पर किये जाते हैं। कहीं जाना हो, कोई दवा खानी हो कोई कपड़ा पहनना हो कोई खरीद बिक्री की बात हो ज्योतिषी की सलाह आवश्यक होगी। जन्म हो, मरण हो, विवाह हो द्विरागमन हो ज्योतिष उसमें जरूर दखल देगा। व्रत हो, उपवास हो उत्सव हो त्यौहार हो ज्योतिष के बिना हो नहीं सकता। ज्योतिषी के पास भारतीय गृहस्थ को हर छोटे बड़े काम के लिए जाना ही पड़ता है। प्राचीन काल में ज्योतिष का क्षेत्र बहुत व्यापक था। बादल क्या बनते हैं सुबह शाम आकाश क्यों लाल हो जाता है भूकम्प का क्या कारण है आंधी और तूफान कैसे होते हैं ये सारी बातें ज्योतिष की विवेचना का विषय मानी जाती थी। पुरुष और स्त्री के कौन से चिह्न सौभाग्य की निशानी है कौन-से दुर्भाग्य की हाथ और पैर की कौन सी रेखा पुरुष को राजा या योगी बना देती है और स्त्री को रानी या विधवा बना देती

है इसका विचार यही शास्त्र करता था। कौए के काँव-काँव से क्या सूचित होता है, शृगाली के रोदन का क्या फल होता है, उल्लू के कहाँ बठन पर क्या हान की सम्भावना है घोडे की अवारण हिनहिनाहट से किस अमगल की सूचना मिलती है, छाग और कुक्कुट के कौन-स लक्षण अच्छे या बुरे होत हैं ये और इस प्रकार के अन्य सकडा प्रश्नो का उत्तर ज्योतिष देता था। कब और कहाँ कुआँ बनाना चाहिए मकान कहाँ और कसा बनना चाहिए, तालाब का खुदना कब शुभ है कब अशुभ खिडकी और दरवाजे कसे और कहाँ लगन चाहिएँ, घर की खाट म कौन सा काठ शुभ होगा कौन-सा अशुभ—ऐसी बीसियो बातो का उत्तर ज्योतिष देता था। कहना व्यथ है कि इस प्रकार के व्यापक क्षेत्रो पर सम्पूण अधिकार रखनेवाला शास्त्र कितना प्रभावशाली होगा और राष्ट्रीय सस्कृति के निर्माण म कितना महत्त्वपूण स्थान का अधिकारी होगा। आजकल के अनक शास्त्र अपरिणत अवस्था म इस शास्त्र के अन्तगत पडत थे।

बहुत प्राचीनकाल म इस देश म ज्योतिषी का स्थान बहुत महत्त्वपूण रहा है। धमसूत्रो और 'अथशास्त्र' के युग म भी वह केवल साधारण गृहस्थ का ही पथप्रदशक नहीं होता था राजाओ के सधिविग्रह का परामशदाता भी होता था। अथशास्त्र' की व्यवस्था है कि राजा को ज्योतिषी अवश्य रखना चाहिए। ज्योतिषी का पुराना नाम दवज्ञ था। वराहमिहिर ने बहत्सहिता म दैवज्ञ का जो लक्षण दिया है उससे सहज ही समझा जा सकता है कि उसे क्या-क्या काम करना पडता था। उसे हर प्रकार गणितशास्त्र से परिचित होना पडता था। देह के किसी अग के फडकने का क्या अथ है किस स्वप्न से क्या फल प्राप्त होने की सभावना है, विविध शुभ कर्मों के आरम्भ या अन्त करने का ठीक समय कब आता है इत्यादि बातो की उसे जानकारी होनी ही चाहिए थी। ज्योतिषी आक्रमण करने का शुभ मुहूत तो बताता ही था वह यह भी बता देता था कि किस पुरुष के सेनापतित्व मे जीत होने की आशा है। उसे घोडा हाथी आदि के इगितो से भावी शुभाशुभ फलो का निर्देश कर देना पडता था। शास्त्र म बताया गया है कि यदि घोडा बार बार ताडन करने पर भी आगे न बढे और बार-बार मूत्र पुरीष का त्याग करता रहे तो लक्षण बुरा है। हाथी अगर पथ्वी पर सूड रख दे आख बन्द कर ले और कान खडा कर ल तो मामला सगीन होता है। ऐसे लक्षण देखकर ज्योतिषी का भावी पराजय की आशका बता देनी पडती थी। पर सौभाग्यवश यदि हाथी सूड उठाकर वग से चल पडे तो फिर जीत निश्चित मानी जाती थी। यह नहीं समझना चाहिए कि ये बातें पेशेवर ज्योतिषियो तक ही सीमित थी। गृहस्थो का ऐसे अनक

लक्षणो का ज्ञान रहता था। पुराने ग्रथा म एसी बहुत सी कथाएँ मिलती है जिनस जान पडता है कि साधारण गृहस्थ इन बातो की अच्छी जानकारी रखत थे। कभी कभी इन विश्वासा न एतिहासिक महत्व की घटनाओ के घटन म सहायता दी है। आरम्भ म यह बात बहुत साधारण रूप म थी परन्तु धीरे धीरे इन्होने बड ही महत्वपूण शास्त्रो का रूप ग्रहण किया। हाथिया क पहचान की विद्या घाडा के पहचान की विद्या विविध पशु पक्षिया क लक्षणा की विद्या इन्ही बाता का विकास है। मणिया और रत्ना की परीक्षा न भी महत्वपूण कला का रूप ग्रहण किया है और सहिता स्कध के अन्तगत आनवाल वास्तुशास्त्र और प्रतिमा लक्षण न तो भारतीय धम और सभ्यता म जो प्राण सचार किया है वह किसी प्रकार भुलाया नही जा सकता। परवर्ती काल के विशाल मदिर और मनोहर मूर्तिया का निर्माण विद्या मूलत सहिताओ म ही अतभुक्त थी। बहुत पुराने जमाने में हा राजकुमारा को जो कलाएँ सिखाई जाती थी उनमें से बहुत सी एसी है जिनका परिचय आज केवल ज्योतिषिक सहिताओ स ही मिल सकता है। ललित विस्तर में लिखा है कि कुमार सिद्धाथ को स्वप्नाध्याय स्त्रीलक्षण पुरुषलक्षण अश्वलक्षण हस्तिलक्षण गोलक्षण, अजलक्षण मिश्रित लक्षण आदि कलाएँ सिखाई गई थी। वराहमिहिर की बृहत्सहिता से इन विषया की थाडी सी जानकारी हो जाती है। इन सब विद्याओ पर बडे बडे ग्रथ लिखे गय थ पर दुर्भाग्यवश अब सब मिलत नही।

लेकिन ज्योतिषी को कवल इतनी ही बातो तक आकर रुक नही जाना पडता था। उस सूय आदि ग्रहा और सप्तर्षि मडल आदि नक्षत्रा क सचार का पता रखना पडता था। कौन सा ग्रह कसा रग पकड रहा है कब उदय हो रहा है कब अस्त जा रहा है चद्रमा की नोक किधर उठी हुई है मगल का रग क्यो फीका पड गया है च द्रमा के चारा ओर परिवेश कितना बडा है ग्रहण कब हो रहा है इन सबकी खबर उस रखनी पडती थी। उल्का वायु दिग्दाह भूकम्प सध्या की लालिमा, इन्द्रधनुष गधव नगर सब पर उसकी अनुसधायिनी दृष्टि का पडना आवश्यक था। इतने निपुण भाव स आकाश का पयवेक्षण करनेवाले ज्योतिषिया न यदि ससार को ज्योतिष और गणित की महत्त्वपूण बाता का सधान बताया तो इसम आश्चय की कोई बात नही है। आज स कई हजार वष पहल इन ज्योतिषिया का अवमान का और ग्रहगणित का जमा ज्ञान था वह आज क वज्ञानिक युग म आश्चय की बात समझा जाता है। दुनिया इन बातो म उनस बहुत अधिक आग नही बढी है। यह दूसरी बात है कि गणित ज्योतिष का क्षेत्र आज बहुत विस्तीण हो गया है।

ज्ञान की जानकारी व आदान प्रदान में सबसे अधिक संस्कारयुक्त ये ज्योतिषी ही रहे हैं। ज्ञान को इस क्षेत्र म जाति, धम और देश के ऊपर समभा गया ह। हमारे द व उपनिषियो न असुरा (असीरियनो) और यवना (ग्रीका) स ज्ञान लिया भी है और दिया भी है। मध्यकाल के अरबो म जब विद्या की भूख बहुत बढ़ी थी तो हमारे देश के अनेक ज्योतिष ग्रथो का अरबी म अनुवाद हुआ। वराहमिहिर ने कहा है कि यद्यपि यवन लोग म्लेच्छ है तथापि इस विद्या की जानकारी के कारण ऋषिवत पूज्य है। सो ज्योतिष के आचार्यों मे अदभुत उदारता रही है। हमारी सस्कृति म ज्ञान की पवित्रता के प्रति जो निष्ठा है उसका सर्वोतम निदशन यह ज्योतिष विद्या है। मैंने एक बार भारतीय सम्वत की आलोचना ज्योतिष शास्त्रीय परम्परा के अनुसार करत हुए देखा था कि इस सम्वत के साथ असुरा यवना शका और आर्यो की दीघ साधना से उपलब्ध ज्ञान की स्मति जुडी हुई है। मैंन उस दिन बडे उल्लास से अनुभव किया था कि इस शास्त्र के भीतर से हम मनुष्य की सामान्य सस्कृति की ही विजयगाथा सुनते हैं। यह शास्त्र मनुष्य के ज्ञानक्षेत्र के मिलन का अदभुत निदर्शन है। जो लोग आज दुविधा म पडे हुए है उन्हे यह बात आश्वस्त करती है कि यह जो कुचित विकट भ्रुकुटियो का अभिनय चल रहा है यह जो दत दष्ट अधरोष्ठो के द्वारा सघप का भयकर लक्षण स्पष्ट हो रहा है वह सब क्षणिक है। कठोर सघर्षो के भातर भी मानव मानव की मिलन भूमि तयार हो रही है। ज्योतिष शास्त्र यह आशाकर सन्देश ही देता है। हमारी सस्कृति को उसन विश्व सस्कृति बनने म अदभुत सहायता पहुचाई है। उसन मनुष्य को आग बढने का साधन प्रस्तुत किया है मिलन का क्षेत्र तयार किया है और मनुष्य की उच्चतर वत्तियो के प्रति हमारी आस्था को दढ किया है।

भारतीय विचारधारा के विकास म ज्योतिषशास्त्र के विविध अगो की देन बहुत अधिक है। अनेक भारतीय कलाओ के प्रवतन के मूल म मागल्य भावना रही है और इस भावना को ज्योतिष न निरन्तर पुष्ट किया है। नाट्य शास्त्र म नाट्य और नत्य को भी मागल्य समभकर प्रवत्त बताया गया है। वस्तुत जसा कि सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचाय न कहा है पुराने ज्योतिषी ज्योतिष शास्त्र को आदेश कहते थे। आदेश हेतु का भी हो सकता है फल का भी हो सकता है और सम्भावना का भी। जगत के समस्त पदार्थों और व्यापारा का हेतु और फल यह शास्त्र बताया करता था और दूसर पदार्थों और व्यापारा के मिलन से उत्पन्न होनेवाली सम्भावनाओ का भी आदेश करता था इसी लिए उसने सम्पूण भारतीय जीवन को निविड भाव स प्रभावित किया है।

शाक्त मार्ग का लक्ष्य—अद्वैत

मेरे मन म आगम शास्त्रो के प्रति बडी श्रद्धा है और इन शास्त्रो न जो मनुष्य को बहुत हा महत्त्वपूर्ण जीवन दशन दिया है उसक प्रति अपार निष्ठा है। परन्तु श्रद्धा और निष्ठा ज्ञानानुगा होकर ही चरिताथ होती है ज्ञान विरहित होन पर यह गलत दिशा की ओर भी ले जा सकती हैं। ज्ञान चैतन्य स्वरूप है। श्रद्धा और भक्ति चेतन धम हैं शव आगमिको की अहता शक्ति इनका आश्रय है। निष्ठा स्थिति की वाचक है परम शिव की इदन्ता शक्ति की आश्रिता है। परन्तु विशुद्ध चतन्य परमानन्द विभव परम शिव ही हैं। शक्ति तान्त्रिको की भाषा म परमानन्द विभव शिव म जब नानात्व विस्तार की इच्छा होती है तो व सगुण शिव और शक्ति के रूप म अपने आपको द्विधा विभक्त कर लेते है और उन्ही की अभिन्न शक्ति अहन्ता प्रधान नाद और 'इदन्ता प्रधान बिन्दु म प्रकाशित होती है। अन्यत्र इन दोनो को इच्छा शक्ति और 'क्रिया शक्ति भी कहा गया है। परम शिव की ज्ञान शक्ति से ये दोनो युगपत समुदित होती हैं। शक्ति और शिव एक-दूसरे से अभिन्न हैं—

> शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति शक्तेरभ्यन्तरे शिव ।
> अन्तर नव जानीमश्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

अहन्ता और इदन्ता नाद और बिन्दु इच्छा और क्रिया गति और स्थिति काल और स्थान और आधुनिक काल के कन्टिनुअम और क्वटम एक ही शक्ति के द्विधा विभाजित रूपो क नाम हैं, भिन्न भिन्न धरातलो पर। ज्ञान शक्ति स उद्भूत इच्छा और क्रिया नाद और बिन्दु क निरन्तर अग्रसर होत रहन से जगत्प्रपच प्रतिभात है। इस ही शाक्त आगमो म अधोमुख त्रिकोण के प्रतीक स व्यक्त किया जाता है। ज्ञान, इच्छा, और क्रिया स

त्रिपुटीकृत जगत्प्रपंच को रूपायित करने के कारण ही शिव की आद्या शक्ति त्रिपुरा कही जाती है। ज्ञान से विमुख इच्छा और क्रिया विरुद्ध दिशाओं में अग्रसर हो रही है। कण-कण में व्यक्ति व्यक्ति में, समष्टि-समष्टि में अपनी-अपनी दिशाओं में अग्रसर होती रहनेवाली इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति इस भेद प्रधान प्रपंच को जटिल से जटिलतर बनाती जा रही हैं। यदि कभी ऐसा हो कि ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति नजदीक आने लगें और ज्ञान की ओर उन्मुख हो जाएँ और इच्छाएँ और सारी सारी क्रियाएँ क्रमश सिमटती हुई ज्ञान में परिसमाप्त हो जाएँ और मनुष्य को भगवान श्रीकृष्ण की उस दिव्य वाणी के साक्षात्कार का अवसर मिले कि सर्व कर्माखिल पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते तो वह ऊर्ध्वमुख त्रिकोण बन जिसे शास्त्रकारों ने शिव के प्रतीक रूप में समझाया है और जीवन चरितार्थ हो जाए। पर कहाँ हो पाता है? माया प्रपंच में पड़े हुए भाग्यहीन जीव को यह सुख कहाँ मिलता है? एक बार उलझा सो उलझता ही जाता है। बिहारी ने निराश होकर कहा था—

> को छूट्यो यहि जाल परि कत कुरंग अकुलात।
> ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत त्यों-त्यों उरझत जात॥

जीवन के हर मोड़ पर मैं ऐसा ही अनुभव करता हूँ। और इस अनुभूति की मात्रा निरन्तर गाढ़ होती जा रही है गाढ़ से गाढ़तर! भागवत में प्रह्लाद ने कहा था कि जो जितेन्द्रिय नहीं होते परन्तु शास्त्र और ज्ञान की चर्चा का रोजगार करते हैं वे फिर भी बहुत बुरे नहीं हैं जो दाम्भिक हैं व तो इतना भी नहीं कर पाते

> मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्मव्याख्या रहो जपसमाधय आपवर्ग्याः।
> प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम्।

फिर आगमों के इस सिद्धान्त पर भी बड़ा भरोसा है कि परमशिव जो साक्षात् चित्स्वरूप हैं उनकी अभिन्न संविद्रूपा महाशक्ति ने कण-कण को अपनी लीला में सिक्त कर रखा है क्षण-क्षण को उद्भासित कर रखा है। कुछ भी उनकी कृपा से वंचित नहीं है, कहीं भी, कभी भी, किसी भी धरातल पर उनकी उँगली पकड़कर सहारा लिया जा सकता है। यह सारा जगत्प्रपंच अन्ततोगत्वा एक है और संविद्रूपा भगवती की महिमा से उद्भासित है। किसी भी क्षण—और किसी भी कण बिन्दु पर उस करुणामयी की कृपा पाई जा सकती है। निराश होने की या हार मानने की कोई आवश्यकता नहीं है

> तत्त्वे तत्त्वे सकलरचना संविदेका विभाति।
> तत्त्वं तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति॥

ग्रासे ग्रासे बहूलतरला लम्पटा सविदेका।
मासे मासे भजत भवता व हिना सविदेका॥

तत्र शब्द बहुत व्यापक अर्थों म प्रयुक्त होता रहा है। इसके बार मे कामिक आगम के तत्रान्तर पटल म कहा गया है कि तत्त्व और मन्त्र से समन्वित विपुल अर्थों का विस्तार करने और ससार के भ्रान्त जीवो का त्राण करने के कारण इसे 'तन्त्र' कहते हैं

तनोति विपुलानर्थान तत्त्वमत्र समन्वितान।
त्राण च कुरुते यस्मात तन्त्रमित्यभिधीयते॥

इसीलिए युक्ति-तर्क के आधार सत्य के अन्वेषी शास्त्र भी तन्त्र कहे जाते रहे है। फिर अनेक प्रकार के जीवन दर्शना और साधना पद्धतिया म विश्वास करने वाले सप्रदाया के तत्र है। कभी कभी हर प्रकार के आगम को तत्र कहने की प्रवत्ति भी देखी जाती है। लेकिन लोक म तत्र का प्रचलित अर्थ शाक्त आगमा की साधना पद्धति है। बताया गया है कि आगम तीन श्रेणी के है—वैष्णव शैव और शाक्त। व्यवहार मे इनके प्रचलित नाम सहिता, आगम और तत्र हैं। वसे सभी आगमा के लिए सभी शब्दो का व्यवहार देखा जाता है। प्रधान रूप से हमारे इन प्रदेशा मे तो तत्र का अर्थ बहुत ही सकुचित रूप म ग्रहण किया जाता है। दुर्भाग्यवश तत्र के नाम पर प्रचलित ग्रन्था म साधन विधिया का अधिक विस्तार देखकर शिक्षित लोगा म उस सकुचित अर्थ के प्रति आग्रह बढ भी गया है। यह बात भुला दी जाती है कि शाक्त तत्रा के क्रिया बहुल ग्रन्था म भी एक अन्तर्निहित तत्त्ववाद हो सकता है। स्वय शाक्त आगमा म तत्र शब्द एक निश्चित अर्थ म व्यवहृत हुआ है। सात्त्विक अधिकारिया का उद्देश्य करके लिखे गये आगम तत्र कहे जाते हैं राजस अधिकारिया के लिए उपदिष्ट ग्रन्थ 'यामल' कहे जाते हैं और तामस अधिकारिया को लक्ष्य करके लिखे गए शास्त्र डामर कहे जाते है। कहा जाता है कि परम शिव की पाँच शक्तियाँ—चित् आनन्द ज्ञान इच्छा और क्रिया है। इसीलिए उन्हे पचवक्त्र कहते हैं। उनके पाँच मुखा के नाम हैं—ईशान तत्पुरुष, सद्योजात वामदेव और अघोर। इन्हा पाँच मुखा से निकली वाणिया के प्रस्तार विस्तार म १० सात्त्विक आगम, १८ रौद्रागम और ६४ भरवागमा की उत्पत्ति हुई है। शव और शाक्त आगमा के अनुसार परमेश्वर शिव तत्त्वत एक होकर भी शक्तिया के सामरस्य भेद से अनेक रूप म प्रतिभात होते हैं। उनकी परम्पराए मोटी तौर पर तीन हैं—भेद प्रधान भेदाभेद प्रधान और अभेद प्रधान। भेद प्रधान परम्परा से १० सात्त्विक आगम भेदाभेद प्रधान

रूप में १८ रौद्र आगम और अभेद प्रधान रूप से ६४ भैरवागमों का आविर्भाव हुआ है।

सम्मोहन तन्त्र' में बाइस भिन्न भिन्न आगमों की चर्चा है। इनमें चीनागम पाशुपत पांचरात्र, कापालिक भैरव, अघोर, जैन, बौद्ध आदि आगमों की भी चर्चा है। लेकिन बहुत प्राचीन काल से ही 'तंत्र' शब्द का प्रयोग शाक्त आगमों के साथ होता आ रहा है। 'कुब्जिका मततन्त्र' की एक प्राचीन प्रति गुप्तलिपि में लिखी मिली है जिसमें निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि गुप्त काल के पहले शाक्त-तन्त्रों का प्रचार बहुत अधिक था।

सं० ६०१ ई० का 'परमेश्वर मत तंत्र' और उसी समय का 'महाकुलागम विनिर्णय तंत्र' भी प्राप्त है। हमने इसके पहले तीन प्रकार के मुख्य आगमों की चर्चा की है। इनमें वैष्णव आगम दो हैं—पांचरात्र और वैखानस संहिताएँ। शैव आगमों के माहेश्वर लाकुल, भैरव, कश्मीर आदि कई सम्प्रदाय हैं। शाक्तों के भी नौ आम्नाय और चार सम्प्रदाय हैं—केरल, कश्मीर, गौड और विलास। शाक्त आगमों का प्रचार समूचे भारत में है। इन सभी साम्प्रदायिक आगमों में थोड़ा अन्तर होते हुए भी समानताएँ बहुत हैं। सभी अपने उपास्य को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करते हैं, देवता की शक्ति या शक्तियों में तथा ईश्वर की इच्छा शक्ति तथा क्रिया शक्ति में विश्वास करते हैं। आर्थर एवेलन (सर जॉन वुडरफ) ने कहा है कि मंत्र, यंत्र, न्यास, दीक्षा, गुरु आदि तत्त्व जिसमें हों वहीं तंत्रशास्त्र है और इस दृष्टि से सभी आगम तंत्रशास्त्र हैं या तांत्रिक प्रभावापन्न हैं। भेद अनेक हैं, पारिभाषिक शब्द भी अनेक हैं पर मूल स्वर सबका एक है। उन्होंने लिखा है कि इनका मूल स्वर इतना मिलता जुलता (एक) है कि पारिभाषिक शब्दों के भिन्न भिन्न होने से कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। पांचरात्रों की भाषा में लक्ष्मी शक्ति, व्यूह और संकोच कहें या शाक्तों की भाषा में त्रिपुरसुन्दरी महाकाली तत्त्व और कंचुक कहें इनमें कुछ विशेष भेद नहीं रह जाता।

निस्सन्देह, आगम शास्त्र बहुत प्राचीन हैं। योगशास्त्र के भाष्यकार ने अनेक स्थलों पर आगमिकों को प्रमाण कोटि में रखकर उनका मत उद्धृत किया है। इनमें स्वभावतः अनेक प्रकार के दार्शनिक विचार और व्यावहारिक विधान भी रहे हैं। परन्तु शैव और शाक्त आगमों की परिणति अद्वैतवाद में ही हुई है। ब्रह्मवाद से यह अद्वैत दृष्टि थोड़ी अलग है। समूचे शाक्त तंत्र के साहित्य में शक्ति को चिद्रूपा माना गया है। वैसे प्रायः सभी दर्शन शक्ति को किसी न किसी प्रकार स्वीकार करते ही हैं और पिछले दो हजार वर्षों से तो भारतवर्ष का शायद

ही कोई ऐसा सम्प्रदाय हो जिसमें उपास्य देवता की शक्ति की कल्पना न की गई हो। हमारे देश का मूर्तिशिल्प शक्तिकल्पना के कारण बहुविचित्र रूप में समृद्ध हुआ है। शैव और शाक्त तन्त्रों की विशेषता यह है कि वे चिद्रूपा शक्ति को स्वातन्त्र्यमयी मानते हैं। यह विश्व शक्ति के स्वातन्त्र्य का ही फल है। जान बूझकर 'परिणाम' शब्द का व्यवहार नहीं कर रहा हूँ। भारतीय दर्शनों में परिणाम शब्द का एक निश्चित पारिभाषिक अर्थ है। उस दृष्टि में यह परिदृश्यमान जगत विश्व शक्ति का वैसा ही परिणाम नहीं है जिस प्रकार दही दूध का परिणाम होता है। वह वस्तुतः शक्ति का प्रसार और संकोच है। प्रसार और 'संकोच' शक्ति आगमों के अपने शब्द हैं लेकिन आधुनिक भौतिकशास्त्रियों के वाइब्रेशन (कम्पन एजन)से आश्चर्यजनक साम्य रखते हैं। जगत के रूपायित होने के मूल में संकोच और प्रसार या एजन की निरन्तर चलती रहनेवाली प्रक्रिया है। सो यह सृष्टि शक्ति का परिणाम नहीं शक्ति रूप ही है। आधुनिक भौतिकशास्त्री 'एजन' या 'संकोच प्रसारशील कंपन' का संधान तो पा गए हैं पर उसकी चिद्रूपता स्वीकार करने में हिचकते हैं। शाक्ततन्त्र उसकी चिद्रूपता को स्वीकार करके ही आगे बढ़ता है। मूलतः वह चैतन्य तत्त्व का ही अन्वेषी है। ऊपरले स्तर पर विरोध और वैविध्य दिख सकता है पर मूल प्रश्न एक ही है। यह मार्ग भी चिन्मय आनन्द तत्त्व का ही अन्वेषक है।

हमारा यह देश बहुत बड़ा है स्थान में भी और काल में भी। न जाने कब से यहाँ के ऋषियों मुनियों सन्तों और कवियों ने अपने अनुभूत सत्य को नाना भाव से प्रकट करने का प्रयत्न किया है। बड़ों का सम्मान निरन्तर होता आया है परन्तु ऐसे शक्तिशाली सम्प्रदाय भी उत्पन्न हुए हैं जो वेदों को नहीं मानते। अनेक प्रकार की विचारधाराएँ जब क्रमबद्ध युक्ति-तर्क का आश्रय लेती हैं तो 'दर्शन' कहलाती हैं जब जीवन के नियामक विश्वासों और आचरणों का रूप ग्रहण करती हैं तो धर्म कहलाती हैं और जब जीवन के मंगल के निमित्त सुन्दर रूप में अभिव्यक्ति पाती हैं तो कला का नाम धारण करती हैं। यह कला छन्द और स्वर का भी माध्यम ग्रहण करती है चित्र वास्तु और मूर्ति के रूप में भी प्रकट हो सकती है तथा मिट्टी पत्थर काँसा और ताँबे की कमनीय मूर्तियों का रूप भी ले सकती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष आचरण और निर्माण के पीछे एक स्पष्ट विचारधारा है। इन विचारों का बौद्धिक रूप 'दर्शन' है आचरणात्मक रूप धर्म है और सुन्दर माङ्गल्यमय अभिव्यक्ति 'कला' है। हमारे दर्शन का साहित्य बहुत ही बड़ा है संक्षेप में उसकी चर्चा करना संभव नहीं।

उसी प्रकार धम और कला का साहित्य भी अत्यन्त विशाल है। संस्कृत पालि,
अपभ्र श और आधुनिक देश भाषाओ म लाखो पुस्तकें लिखी गई हैं और अब
भी लिखी जा रही हैं। क्या कोई एक मूल बात इस सारे साहित्य म खोजी जा
सकती है ? ऊपर ऊपर स देखने से यह बात बिलकुल कठिन जान पडती है।
वह कौन-सी बात है जो आस्तिक और नास्तिक कहे जानेवाले दशनो म, सगुण
और निगु ण कही जानेवाली भाव धाराओ म ब्राह्मण और ब्राह्मणेतर मानी जाने
वाली विचारशृखलाओ मे समान रूप से पाई जा सके। क्या ऐसी कोई प्राण-
शक्ति है जो ऊपर ऊपर स बहु विचित्र दीखने वाली दशन धम और कला
की मूल प्रवर्तिका मानी जा सके ? कुछ विद्वानो ने उस मूल प्रवृत्ति को खोजने
का प्रयास किया है। सर जान उडरफ ने एक भारत धम की कल्पना करने का
प्रयास किया था। उनका कहना है कि भारत धम की पहली विशेषता यह है कि
यह जगत् केवल अस्त-व्यस्त और अव्यवस्थित रूप नही है बल्कि एक निश्चित
व्यवस्था मे बंधा हुआ है। यह व्यवस्था या आडर बहुत ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है।
यह जगत अस्त-व्यस्त वस्तुओ का भाण्डार नही है जिसके प्राणियो मे परस्पर
कोई नियामक सम्बन्ध नही है। धम वही नियामक सम्बन्ध है जिसके कारण विश्व
स्थित है। धम रहित ससार नष्ट भ्रष्ट हो जाएगा किंतु ऐसा होना सभव नही है
क्योकि धम अधम म भी रहता है। धम सम्पूर्ण के अश मे भी विद्यमान हो सकता
है वह ससार की वस्तुओ की प्रवृत्ति म निहित है। अतएव इसका अभ्युदय
प्रकृति के अनुकूल है। धम ऊपर से लादा हुआ कोई विधान नही है। ससार
की जो वस्तु जिस रूप म है वह उन तत्त्वो की प्रकृति के कारण है जिनके द्वारा
उस वस्तु का निर्माण हुआ है। धम वस्तुत सत्ता का प्रकाशन है, वह पूणतया
तभी नष्ट हो सकता है जब ससार नष्ट हो जाय। अतएव धार्मिकता म विश्वास
करने का अथ किसी निरकुश नियन्ता के सम्मुख अपनी विवशता म नही,
अपितु तक पर आधारित बुद्धिग्राह्य सिद्धान्तो म विश्वास करना है। धम
व्यष्टि और समष्टि दोनो का नियमन करता है। यह समष्टि भी अनुस्पातमक है
जिस सिद्धात द्वारा व्यष्टि और समष्टि अङ्गाङ्गि भाव से सम्बद्ध रहते है वह
भी धम ही है। अतएव भारत धम' के अनुसार धार्मिक व्यक्ति वह है जो यह
समझता है कि वह ससार के सभी प्राणियो से अनेकानेक रूपो म सम्बद्ध है तथा
अधार्मिक वह है जो अन्य प्राणियो का कोई ध्यान रखे बगर सभी को अहकार
वश अपने सीमित स्वार्थों की दृष्टि से आंकता है। यदि सभी प्राणी इस अधार्मिक
प्रवृत्ति को ग्रहण कर लें तो ससार का नाश हो जाय। इसीलिए सभी मजहब
नतिकता के मूल सिद्धातो के विषय म एकमत हैं। सभी मजहब इस बात को

घोषणा करते हैं कि स्वार्थपरता पाप का मूल है। इससे प्रकट हुआ कि नतिकता मनुष्य का वास्तविक स्वभाव है। सामान्य धम सब नियामक है किन्तु विशेष धम विशिष्ट प्राणि समूहों के अनुसार भिन्न भिन्न है। अन्त अननुरूपता दुख है और असद व्यवहार ही सब बुराइयों की जड है। जो जसा करता है उसको वैसा ही फल मिलता है यह एक सव ग्राह्य सिद्धान्त है। कर्मानुसार फल शीघ्र भी दिखाई दे सकता है और काफी समय के उपरान्त भी। यदि इस जन्म म नही तो आगामी जन्म म सही किन्तु कर्मों का फल भोगना अवश्य पडता है। जन्म और मरण का अथ शरीर रचना और शरीर का नाश है। शरीरबद्ध आत्म-तत्त्व शाश्वत और सख्यातीत है। भौतिक विश्व बनता बिगडता रहता है क्योंकि दृश्य और अदृश्य होते रहने का तात्कालिक कारण इच्छा है जिसे बौद्ध मत तृष्णा कहता है। तृष्णा का अथ है दृश्य जगत् म भोग की इच्छा। 'इच्छा कम को प्रेरणा देती है और कम पुन इच्छा उत्पन्न करता है। कम धार्मिक भी हो सकता है और अधार्मिक भी। धार्मिक कम से व्यक्ति को सुख और अधार्मिक कम से दुख होता है। प्रत्येक जीवात्मा को ससार म बार-बार उस समय तक जन्म लेते रहना पडता है, जब तक कि उसे सभी इच्छाओं से मुक्ति नही मिल जाती। पुनजन्म का सिद्धान्त इसी से सम्बद्ध है। ससार मे अथ और काम का अनुगमन करते हुए भी धम के द्वारा अल्पस्थायी सुख प्राप्त किया जा सकता है और धम के द्वारा उचित इच्छाओं की पूर्ति की जा सकती है। धम अथ और काम इन्ही तीनो को ब्राह्मण मत पुरुषाथ वग कहता है किन्तु जिस प्रकार इच्छा का प्रकाशन रूप म होता है उसी प्रकार इच्छा का अभाव रूप हीनता की ओर ले जाता है। जो इस स्थिति (इच्छा हीनता) को प्राप्त कर लेते है उन्ह मोक्ष या निर्वाण मिल जाता है। मोक्ष को चौथा पुरुषाथ कहा गया है जो परिवतनशील रूप जगत से ऊपर परम आनन्द की अवस्था है। इस स्थिति म पहुँच जाने पर इच्छाजन्य दुखो से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार लोग या तो सवसामान्य नियम अर्थात कम का पालन करते हुए अपनी सासारिक इच्छाओं की पूर्ति कर सकते है या इच्छाओं को त्याग कर निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। धममय सभ्यता व्यष्टि और समष्टि का हित करती हुई सबकी आध्यात्मिक उन्नति करती है जिससे प्राणि मात्र को न्यायोचित ढग से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि सुख मानवता का तात्कालिक और अतिम लक्ष्य है।

इस विचार म धम शब्द का बडा व्यापक अथ लिया गया है। वह समस्त विश्व की परिचालित व्यवस्था का ही नामान्तर है किन्तु इसम सदेह नही कि

समूचे भारतीय साहित्य म कुछ मुख्य बातें समान भाव से स्वीकार कर ली गई हैं। मनुष्य जो कुछ करता है उनका फल मिलता है फल भोगने के लिए उसे अनेक जन्म धारण करने पडते हैं फलाकाक्षा के कारण अनेक योनियो म भटकना पडता है आकाक्षा की निवृत्ति से उस छुटकारा मिलता है। निश्चित रूप स आचरण रूप म उल्लिखित सामान्य और विशेष धर्म उसे फलाकाक्षा निवृत्त करने के उपाय मात्र हैं। आकाक्षा की समाप्ति उस 'शुद्ध निर्लिप्त केवल' रूप म छोड देती है। यहा केवल बन जाना ही कैवल्य या मोक्ष है। साधक का स्व रूप' म अवस्थान ही कर्तव्य है। वही परम काम्य आनन्द है।

शिव प्रकाश हैं शक्ति विमर्श हैं। प्रकाश रूप शिव के साथ विमर्श रूपा शक्ति के सामरस्य को ही 'परा सवित' कहते हैं। शिव सदा शक्तियुक्त रहते हैं इसलिए उनके निष्क्रिय रूप की कल्पना ही नही की जाती। शाक्त आगम होना-मात्र (भवन-व्यापार) को भी क्रिया ही मानते हैं। शिव म शक्ति योग स जो कर्तृत्व है वह स्वाभाविक है, कृत्रिम आरोपित या आगन्तुक नही। शुद्ध प्रकाश या शुद्ध विमर्श एक आदर्श या कल्प (आइडियल) है, जो परिकल्पना मात्र है। आत्मस्थिति म अवस्थान ही शुद्ध विमर्श है। उसी के क्षोभ से 'एजन' होता है और विश्वप्रपच का विस्तार होता है। जो कुछ है (अस्ति) और जो कुछ भासित हो रहा है (भासत) वह सब सविद्रूपा भगवती का ही रूप है। शाक्त आगम मानता है कि 'अस्ति' और 'भासत' वस्तुत एक ही तत्त्व के वाचक है। जो है (सत्ता) उसी का भान होता है (चिति) और जिसका भान होता है वह सत्ता ही है। सो चिति ही सत्ता है और सत्ता ही चिति। सत्ता के स्तर पर चिति का और चिति के स्तर पर सत्ता का साक्षात्कार हो सकता है।

कोई नही बता सकता कि परिदृश्यमान विश्व प्रपच कब शुरू हुआ इसीलिए यह अनादि कहा जाता है। श्रुति स जाना जाता है कि सच्चिदानन्द परब्रह्म को इच्छा हुई कि मैं एक हू अनेक होऊँ। क्यो उसे इच्छा हुई? उस किस बात का अभाव था? कोई नहा बता सकता। यह उसकी लीला है। यही इच्छा प्रथम स्पन्द है। ज्ञान स इच्छा हुई और इच्छा ने क्रिया का रूप धारण किया। इस प्रकार ज्ञान इच्छा क्रिया का क्रम शुरू हो गया। वस्तुत सारा जगत ज्ञान इच्छा क्रिया रूप म त्रिपुटीकृत है। शाक्त आगमा म इस त्रिपुटीकरण की विधायिका शक्ति को ही त्रिपुरा कहा गया है। ब्रह्म की यह एक शक्ति है। व आगमा म परब्रह्म को ही परमशिव कहते है।

इस वेद-वाक्य के आधार पर ही समस्त आस्तिक दर्शन सृष्टि प्रपच की व्याख्या करते हैं। ज्यो ही ब्रह्म म इच्छा शक्ति का आविर्भाव हुआ त्यो ही

वह सगुण हो गया। सृष्टि का हेतु यह सगुण ब्रह्म ही है। वेदान्त इसी को अपरब्रह्म कहता है और शवागम अपरशिव। यही प्रथमा कला का प्रादुर्भाव होता है इसीलिए शवागम सकल परमात्मा कहता है। सकल अर्थात कलायुक्त। सच्चिदानन्द विभव परब्रह्म या परमशिव से सगुण अपरब्रह्म या सकल परमेश्वर तक आने की स्थिति तक कितने ही रूपों की कल्पना की जा सकती है। परम (सुप्रीम) तत्त्व क्रमश: सूक्ष्म (सटल) और फिर क्रमश स्थूल (ग्रास) रूप म व्यक्त हो रहा है। एक रूप से दूसरे तक पहुचने की अन्तवर्ती अवस्थाए अनेक होगी। अनन्त हो सकती हैं। साधना माग के यात्रियों ने अपने अनुभव अनेक प्रकार के बताये हैं। मूल बात यह है कि सगुण ब्रह्म या सकल परमात्मा म जो इच्छा हुई वह एक प्रकार का स्पन्दन या कपन (वाइब्रेशन) है उपनिषदो की भाषा मे 'एजन' है। यह कहने की आवश्यकता नही कि शब्द कम्पन का ही मूत रूप है। इसलिए शव और शाक्त आगमो मे ब्रह्म की (या शिव की) इस इच्छा शक्ति को नाद कहते है। यह अत्यन्त सूक्ष्म है। मनुष्य अपने कानो से जो शब्द सुनता है वह स्थूल है बहुत स्थूल। केवल बौद्धिक दृष्टि से हम उस प्रथम सूक्ष्म स्पन्द की बात सोच सकते हैं। इच्छा ही नाद है। इच्छा के साथ क्रिया लगी है। क्रिया को ही बिन्दु कहते है। शारदा तिलक (१ ७) म कहा गया है कि सच्चिदानन्द विभव शिव सकल (कला सहित सगुण) परमात्मा के रूप मे प्रकट हुए और उन्ही की शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ और नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई

सच्चिदानन्द विभवात सकलात परमात्मन ॥
आसीच्छक्तिस्ततो नादस्तमाद्बिन्दुसमुदभव ॥

सकल परमात्मा की इस शक्ति को ज्ञान शक्ति कहते हैं। नाद इच्छा शक्ति है बिन्दु क्रिया शक्ति है। यही ज्ञान इच्छा और क्रिया का त्रिकोण है। नाद या इच्छा शक्ति गति है बिन्दु या क्रिया शक्ति स्थिति। गति और स्थिति मिलकर रूप या आकार प्रकट करते हैं।

यद्यपि यह परम सूक्ष्म तत्त्व है स्थूल उच्चरित शब्दो स उसका ठीक ठीक तात्पय नही समझा जा सकता पर लाचारी यह है कि उसको मानस पटल पर ले आने का साधन तो हमारे पास यही स्थल शब्दो वाली भाषा है। सो जब हम उस तत्त्व को समझाने क लिए भाषा का प्रयोग करते है तो सारी बातें उसम अँटती नही। इसलिए ऐसे प्रसगो म भाषा को साधन मात्र मानना चाहिए। उसकी सीमा म नही उलझना चाहिए। यहाँ स्थूल

शब्दो म इस बात को समभने का प्रयत्न किया जा रहा है। मान लीजिए प्रथम स्पन्द नाद रूप म प्रकट हुआ। हमारे पास सबसे सूक्ष्म अक्षर अकार' है। सबसे स्थूल ओष्ठय वर्णों का अन्तिम म' कार है जो ओष्ठो को तो बन्द कर ही देता है नाक तक की सहायता लेता है। अब हमारा जाना हुआ मूल स्वर या नाद अ कार ही है। मान लीजिए, प्रथम स्पन्द 'अ रूप म गति-शील हुआ। यदि सिफ गतिशील ही रहे तो कम्पन या स्पन्द नही होगा। स्थिति भी चाहिए। नाद ही गति है बिन्दु ही स्थिति है। गति और स्थिति का विलास ही जगत है। सो गति रूप नाद सृष्टि के लिये आवश्यक है उसके साथ ही बिन्दु भी म कार अनुस्वार या चन्द्रबिन्दु रूप मे ही तो बदलता है। अब अ स्वर म म' व्यञ्जन से रुद्ध हुआ। कण्ठ से ओष्ठ तक उस यात्रा करनी पडी और ओष्ठ बन्द हो गए। बन्द होते समय वह उ जैसा हो जाएगा, इस प्रकार अ-उ म प्रथम स्पन्द हुआ। पर समाप्त नही हुआ। यह तो कम्पन है, चलता ही रहेगा। एक बार उठकर बन्द हो गया तो फिर कम्पन कैसा ? अ उ म के इस अक्षरत्रय का मिलित रूप है 'ओम्'। स्थूल वर्णो म समभाया गया है इसलिए इसके स्थूल उच्चारण पर ही ध्यान जायगा। परन्तु यह समभने का एक तरीका भर है। प्रथम विश्व-ब्रह्माण्ड-व्यापी स्पन्द (कास्मिक वाइब्रेशन) कुछ इसी प्रकार का—लेकिन अत्यन्त सूक्ष्म रूप म—होगा। इसीलिए यह ओकार' विश्व का आरम्भ है। सगुण ब्रह्म का यह नवरूप है। नव, नवीन आदि शब्द बहुत अच्छे नही हैं क्योंकि जो नया होता है वह पुराना भी हो जाता है, प्रथम नया स्पन्द कभी पुराना नही हुआ। वह *प्रतिक्षण नित्य स्पंदित हो रहा है। इसीलिय केवल 'नव' कहना ठीक नही* है—वह प्रणव है। 'नव नव जायमान ' है।

आगमो म ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया-शक्ति को ही बीज, नाद और बिन्दु कहा गया है। आधिदविक भाषा म कहे तो यह ब्रह्मा, विष्णु, और शिव हैं। इस त्रिधा विभाजित शक्तित्रय के अधिष्ठातृ-देवता ही ब्रह्मा विष्णु और शिव है। सृष्टि करने को उद्यत अपरब्रह्म ही के ठीक पूव की निष्कलुष अवस्था को निरजन कहा जाता है। निरजन ही सकल परमात्मा या अपर ब्रह्म के रूप म अभिव्यक्त होता है।

परब्रह्म या परमशिव स अपरब्रह्म या सकल परमात्मा तक की परिणति का व्यवहार म कोई विशेष उपयोग नही है। पर मध्य काल के आगमो और निगुणमार्गी साहित्य म मध्यवर्ती अवस्थाओ की कल्पना की गई है और उन कल्पनाओ के आधार पर अल्पविकसित बुद्धि के अनुयायियों न

पौराणिक आख्यान लिखे हैं। जैसा कि पहले बताया गया है निष्कल परम शिव से सकल परमात्मा तक की यात्रा की, मनुष्य-बुद्धि की पहुँच के अनुसार सैकड़ों-हजारों अवस्थाओं की गणना की जा सकती है की भी गई है। कभी कभी तो इस विस्तार की जटिल पद्धतियों से औसत तत्त्वजिज्ञासु बिदक जाते हैं। मूल बात को मन में रखकर देखने पर बिदक जाने की सम्भावना नहीं रहेगी।

शास्त्रकारों ने चार अवस्थाएँ बताई हैं—परा पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। *बिन्दु के विस्फोट के पूर्व परा नामक अवस्था होती है। मूलाधार में कुण्डलिनी में* यह विद्यमान है। जब यह गतिशील होती है तब उसमें स्पन्द होता है। इसी सामान्य स्पन्द को पश्यन्ती कहते हैं। इसका स्थान मूलाधार से मणिपूरचक्र तक है। यहीं इसका मन से संयोग होता है। कई पुराने वैयाकरण परा वाक् की चर्चा नहीं करते। अभिनवगुप्त ने जरठ वैयाकरणों के इस मत को ठीक नहीं माना था (प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी द्वि भा पृ० १६१) पर जहाँ स्पन्द ही नहीं है उससे वैयाकरणों का क्या लेना देना। स्फोट के बाद पश्यन्ती—देखती हुई। बीज में से अंकुर के निकलने पर जो क्रमशः वक्र भाव से ऋजु भाव तक आने की स्थिति है उसकी कल्पना कीजिए। यही साधक भक्तों की वामा या कुटिला पाशहस्ता भगवती हैं। यह शिव की वामा शक्ति है शब्द और अर्थ की एकभाव मिलितावस्था। फिर मध्यमा जहाँ वर्ण अलग अलग होकर सूक्ष्म रूप में उपस्थित होते हैं। यही ऋजुरूपा दण्डहस्ता देवी है। यह पंचाशन्मुण्डमालिनी देवी है क्योंकि संस्कृतवर्णमाला के ५० अक्षर की माला धारण किए है। इन्हीं पचास अक्षरों के प्रस्तार विस्तार से अनन्त पद बनते हैं अनन्त पदार्थमय जगत का अर्थ देते हैं। यह भावजगत है। फिर मातृका ! शिव की ज्येष्ठा नामिका वैखरी वृत्ति। शब्द अलग अर्थ अलग। मन्त्र साधना के सिद्धान्त इसी व्यवस्था से बने हैं। मन्त्र द्वारा उत्पादित देवता नाभि से कण्ठ तक विद्यमान मध्यमा वृत्ति के विषय हैं। ध्यान द्वारा मन संयोग होने से मन्त्र चैतन्य सिद्ध होता है। जिस मन्त्र में मन संयोग नहीं है वह मन्त्र ही नहीं है। मनन के योग से ही मन्त्र बनता है। प्राणायाम मुद्रा और ध्यान से ही पूर्ण मन्त्र चैतन्य की उपलब्धि होती है। उत्पादित देवता नित्य नहीं होता। मन्त्र तब जाकर सफल होता है जब उसमें अपने ही भीतर विद्यमान विशुद्ध चैतन्य को साधक पा जाता है—तन्मय हो जाता है। तन्त्रग्रन्थों में इन बातों का बहुत विस्तार है। देवी के विभिन्न रूपों को मध्यमा अवस्थाओं की कल्पना है। केवल चिन्मय तत्त्व की उपलब्धि के लिए मध्यमा ध्यान-मन्त्र और स्तोत्र लिखे गए हैं। कंठ के ऊपर वैखरी वृत्ति

का क्षेत्र है। कंठ के नीचे के चक्रों में सूक्ष्म अक्षरों का विन्यास है। अक्षरों के लिए ही दलों की कल्पना है। किसी अंग्रेज साधक को यह तत्त्व सूझ गया होता तो छब्बीस दलों की ही कल्पना करता पर भारतीय साधकों को पचास दलों की कल्पना करनी पड़ी। इक्यावनवां अक्षर स्वयं ओंकार है—एकाक्षरब्रह्म। अ से लेकर म तक के अक्षरों का—इसीलिए पद और पदार्थमात्र का—समाहार ओम।

कई बार पद जाना होता है पदार्थ भी सामने होता है पर 'पहिचान' नहीं होती। पहिचान अर्थात् प्रत्यभिज्ञान। आप गुलाब शब्द (पद) जानते हैं, गुलाब अर्थ (पदार्थ) भी है फिर भी पहिचान नहीं। इससे स्पष्ट है कि पद और पदार्थ के अतिरिक्त एक और वस्तु है जो दोनों का मेल कराती है। यही प्रत्यय है। अर्थात् पद और पदार्थ को मिलाने वाला तत्त्वद्रष्टा चेतन मन है। जहाँ कहीं वाच्य और वाचक होगा वहीं चेतनद्रष्टा का यह ज्ञान उपस्थित होना चाहिए। नहीं तो अर्थ की प्रतीति नहीं होगी। अब ओंकार या प्रणव क्या है? यदि प्रणव को परमात्मा का वाचक माना जाए तो स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी चेतन तत्त्व की प्रतीति भी इसके साथ सम्बद्ध है। लेकिन आगमों के अनुसार प्रणव या ओंकार सूक्ष्म वेद है अर्थात् ज्ञान ही है। वह ज्ञाता नहीं है ज्ञेय भी नहीं है। वह स्वयं ज्ञान है। दूसरे शब्दों में ज्ञेय की प्रतीति का साधन है। स्थूल ज्ञान से वह भिन्न है। वह सूक्ष्म ज्ञान है। इसलिए उसे वाचक नहीं कहा जा सकता। परन्तु उसमें भी ज्ञाता और ज्ञेय का भेद मिटा नहीं है। वहाँ भी ज्ञान ज्ञेय भेद बना हुआ है। इस बात को आगमों में अनेक प्रकार से समझाया गया है। अ, उ और म इन तीन अक्षरों को कभी बीज नाद और बिन्दु कहा गया है कभी ज्ञान, इच्छा और क्रिया कहा गया है। यह स्थूल बीज नाद और बिन्दु से भिन्न केवल भावरूप में वर्तमान होने के कारण सूक्ष्म है। यही कारण है कि आगमों में यज्ञ-याग का विधान करने वाले ध्वन्यात्मक वेद को स्थूल वेद कहा है। और यज्ञ-याग की साधन भूत सामग्रियों को रूप देनेवाले, भावरूप में वर्तमान ओंकार रूप समष्टिगत स्पन्द को सूक्ष्म वेद कहा है। यह भी साधन है पर ज्ञान नहीं है अपर ज्ञान है। पर ज्ञान तो परासंवित ही है। जहाँ ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान एकमेक हो जाते हैं, वहाँ ज्ञान दृश्य या दर्शन मात्र नहीं है। वह द्रष्टास्वरूप भी है। इसीलिए परासंवित इससे भी अधिक सूक्ष्म है। शैवागमों में इस परासंवित् की महिमा इस प्रकार बताई गई है— प्रत्येक पिण्ड में वही चेतना परासंवित रूपायित हो रही है। प्रत्येक मनोभाव में उसी परासंवित

का रूप स्फुरित हो रहा है। और प्रत्येक भौतिक आकार में उसी पराशक्ति का प्रकाश उद्भासित हो रहा है। इस प्रकार पराशक्ति ही संसार के स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थों के रूप प्रकाश और बोध के रूप में प्रकाशित हो रही है।

जो विशुद्ध ज्ञानमयी त्रिपुरा भगवती ही इस दृश्यमान जगत्प्रपंच के रूप में हमारे सामने है। किसी बिन्दु पर उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। समस्त जगत्प्रपंच की [illegible] के कारण ही उन्हें कुल कहा जाता है। शिव अकुल हैं। कुल और अकुल का सम्बन्ध ही कौलभाव है। सौभाग्यभास्कर में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—

कुलं शक्तिरिति प्रोक्तम् अकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥

ज्ञान तंत्र अद्वैत तत्त्व में विश्वास करता है। संसार के सभी पदार्थ ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीन भागों में विभक्त हैं। ज्ञाता ज्ञान का कर्ता है और ज्ञेय उसका विषय। जानने की प्रक्रिया ही ज्ञान है। बताया गया है कि ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान के रूप में यह जगत् त्रिपुटीरूप है। ज्ञान रूप धर्म के एक होने के कारण ये सारे सजातीय हैं अर्थात् 'कुल' हैं। कुल सम्बन्धी सच्ची जानकारी को ही कौल ज्ञान कहते हैं। और भी स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि ब्रह्म ज्ञानरूप है जगत् ब्रह्ममय है इसलिए ब्रह्म से भिन्न नहीं है—इस प्रकार का जो पूर्ण अद्वैत ज्ञान है वही कौल ज्ञान है। प्रत्येक मनुष्य समान भाव से विकसित नहीं है। पर सत्य को प्राप्त करने की इच्छा होनी चाहिए। कुछ जीवों में सांसारिक आसक्ति अधिक होती है। साधना मार्ग में आने पर वे पशु भाव के साधक कहे जाते हैं। उन्हें ऐसा इसलिए कहा जाता है कि वे मोहपाश में बद्ध रहते हैं। ऐसे साधकों के लिए शास्त्रों में अलग ढंग की साधना विहित है। कुछ दूसरे ऐसे होते हैं जिन्हें अद्वैत भाव का उथला आभास मिला रहता है। यह भी भगवती का अनुग्रह ही है कि उन्हें परम सत्य का आभास मिला रहता है। गुरु की कृपा से और निरंतर साधना से वे मोहपाश को छिन्न करने में समर्थ होते हैं। ये वीर साधक कहे जाते हैं। ये क्रमशः सीढ़ी दर सीढ़ी अद्वैत ज्ञान की ओर अग्रसर होते रहते हैं और आगे चलकर अद्वय ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। परन्तु जो साधक जन्म-जन्मांतर के पुण्य के बल से ज्ञान को ग्रहण कर सकते हैं वे दिव्य कहलाते हैं। इन तीन श्रेणी के साधकों में भी अनेक मध्यवर्ती अवस्थाएँ हैं। इनके लिए अलग अलग साधनाओं का विधान है।

तन्त्रशास्त्र में सात प्रकार के आचार बताए गए हैं—वेदाचार वैष्णवाचार, शैवाचार दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इनमें जो (१) वेदाचार है उसमें वैदिक काम्य कर्म यागयज्ञादि विहित हैं। तंत्र के मत से वह सबसे निचली कोटि की उपासना है। (२) वैष्णवाचार में निरामिष भोजन पवित्र भाव से व्रत उपवास, ब्रह्मचर्य और भजनासक्ति विहित है। (३) शैवाचार में यम नियम, ध्यान धारणा, समाधि और शिव शक्ति की उपासना तथा (४) दक्षिणाचार में उपर्युक्त तीनों आचारों के नियमों का पालन करते हुए रात्रिकाल में भांग आदि का सेवन करके इष्ट मंत्र का जाप करना विहित है। यद्यपि इन चारों में पहले से दूसरा दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा श्रेष्ठ है परन्तु ये चारों ही आचार पशु भाव के साधक के लिए ही विहित हैं। इसके बाद वाले आचार वीर भाव के साधक के लिये हैं। (५) वामाचार में आत्मा का वामा (शक्ति) रूप में कल्पना करके साधना विहित है। (६) सिद्धान्ताचार में मन को अधिकाधिक शुद्ध करके यह बुद्धि उत्पन्न करने का उपदेश है कि शोधन से संसार की प्रत्येक वस्तु शुद्ध हो जाती है। ब्रह्म से लेकर ढेले तक में कुछ भी ऐसा नहीं है जो परमशिव से भिन्न हो। इनमें सबसे श्रेष्ठ आचार है अन्तिम कौलाचार। इसमें कोई भी नियम नहीं है। इस आचार के साधक साधना की सर्वोच्च अवस्था में उपनीत हो गये होते हैं और जैसा कि 'भावचूडामणि' में शिवजी ने कहा है, कर्दम और चन्दन में, पुत्र और शत्रु में, श्मशान और गृह में तथा स्वर्ण और तृण में लेश मात्र भी भेद-बुद्धि नहीं रखते

कर्दमे चन्दनेऽभिन्न पुत्र शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथा व काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौल परिकीर्तित।

इसी भाव को बताने के लिए मत्स्येन्द्र ने अकुलवीर तन्त्र में कहा कि जब तक अकुलवीर रूपी अद्वैतज्ञान नहीं तभी तक बाल बुद्धि के लोग नाना प्रकार की जल्पना करते रहते हैं। यह धर्म है यह शास्त्र है, यह तप है यह लोक है यह मार्ग है यह दान है यह फल है यह ज्ञान है यह ज्ञेय है, यह शुद्ध है यह अशुद्ध है यह साध्य है यह साधक है यह तत्त्व है यह ध्यान है—ये सब बाल बुद्धि के विकल्प हैं (अकुलवीर तंत्र ए ७८ ८७)। जिसे यह अद्वैत ज्ञान प्राप्त हो गया रहता है उसे प्राणायाम समाधि और ध्यान धारणा की आवश्यकता नहीं रहती (१७ २०) वह ब्रह्मा शिव रुद्र बुद्ध, देवी आदि उपास्यों से अभिन्न होकर स्वयं ध्यान और ध्याता बन जाता है

(२६ २८)—यह मत उपासना पूजा प्रमाण होम नित्य नैमित्तिक विधि निरूपण, तीर्थ यात्रा धम प्रवण स्तोत्र ध्यान गव व मनी हो जाता है (४३ ४६)। और प्रतिर मरा म मरा नाम यह शक्ति समस्त द्वन्द्व म रहित हो जाता है

धम हि बहुनोबोन सयङ्गविवर्जित ।

वस्तुत तन्त्रशास्त्र का लक्ष्य अद्वैत ज्ञान ही है। तन्त्र ग्रन्था म जो अनेक प्रकार की सिद्धियो और साधनाओ का विस्तार है वह अनेक प्रकार के अधिकारियो को ध्यान म रखकर लिखे गये हैं। तन्त्रशास्त्र म बीज मन्त्र मन्त्रजप मन्त्रचैतन्य नाद बिन्दु कला गुरुतत्त्व शिष्यतत्त्व अष्टबुद्धि ज्ञानरूपा विचार ध्यान आदि विषयों विस्तारपूर्वक समझाई गई हैं। उनका लक्ष्य शिव और शक्ति के अद्वय रूप के साथ सामरस्य अनुभव करना ही है। सर्वत्र मुख्य लक्ष्य अभेदभाव या शिवभाव ही है। कहीं कहीं इस बात को बड़ी धारा सार भाषा म कहा गया है पर उद्देश्य एक ही है—विधि निषध के पचड़े से ऊपर उठकर मूल और अद्वत भाव की प्राप्ति।

कौल मार्ग का अत्यन्त संक्षिप्त और फिर भी अत्यन्त शक्तिशाली उपस्थापन कौलोपनिषद् म किया हुआ है। इस उपनिषद् के पढ़ने से इस मत के साधको का प्रगति विचार और रूढ़िविरोधी मनोभाव स्पष्ट हो जाता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध नैरात्म्यवाद स इस मत का मौलिक भेद है। यह उपनिषद् सूत्र रूप म लिखी गई है। प्रारम्भ म कहा गया है कि ब्रह्म का विचार हो जाने के बाद ब्रह्मशक्ति (धर्म) की जिज्ञासा होनी है। ज्ञान और बुद्धि ये दोना धर्म (शक्ति) के स्वरूप हैं। जिनमे एकमात्र ज्ञान ही मोक्ष का कारण है और मोक्ष वस्तुत सर्वात्मता सिद्धि (अर्थात समस्त जागतिक प्रपचो के साथ अपने को अभिन्न समझने) को कहते हैं। प्रपच से तात्पर्य पाँच विषयो (शब्द स्पर्श, रूप रस गध) से है। इन पाँच विषया को जानने वाला प्राण विशिष्ट जीव भी अभिन्न ही है। फिर योग और मोक्ष दोना ज्ञान हैं अधम का कारण अज्ञान है परन्तु यह अज्ञान भी ज्ञान से भिन्न नहीं है। मतलब यह कि यद्यपि ब्रह्म का कोई धम नही है फिर भी अविद्या के कारण ब्रह्म को ही मनुष्य नानारूपधर्मारोप के साथ देखता है अविद्या भी ज्ञान अर्थात ब्रह्म की शक्ति ही है। अज्ञान ही ज्ञान है और अधम ही धम है। इसका मतलब यह है कि ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति म कोई भेद नही है। यही मुक्ति है। जीव के पाँच बन्धन है—(१) अनात्मा म आत्मबुद्धि (२) आत्मा मे अनात्म बुद्धि (३) जीवो म परस्पर भेद ज्ञान (४) ईश्वर (अर्थात् उपास्य) और

आत्मा (अर्थात उपासक) में भेद बुद्धि, और (५) चैतन्य अर्थात पर ब्रह्म से आत्मा को पृथक समझने की बुद्धि। ये पांचों बन्धन भी ज्ञान रूप ही हैं क्योंकि यह सभी ब्रह्मशक्ति का विलास हैं। इन्हीं बन्धनों के कारण मनुष्य जन्म मरण के वश में पड़ता है। इसी देह में मोक्ष है। ज्ञान यह है—समस्त इन्द्रियों में नयन प्रधान है नयन अर्थात आत्मा। धर्मविरुद्ध कार्य करणीय है धर्म विहित करणीय नहीं है। यहां धर्म का तात्पर्य धर्मशास्त्र से है जो सीमित जीवन के विधि निषेध का व्यवस्थापक माना जाता है। सब कुछ शाम्भवी (शक्ति) का रूप है। इस मार्ग के साधक के लिए वेद मान्य नहीं हैं। अर्थात् वैदिक कर्म काण्ड चरम साधना नहीं है। गुरु एक ही होता है और अन्त में सर्वैक्यता बुद्धि प्राप्त होती है। मन्त्रसिद्धि से पूर्व वेदादि का अर्थात कर्मकाण्ड का त्याग करना चाहिए उपासना पद्धति को प्रकट नहीं करना चाहिए। अन्याय ही न्याय है। किसी का कुछ नहीं गिनना चाहिए। अपना रहस्य शिष्य भिन्न किसी को नहीं बताना चाहिए। भीतर से शाक्त बाहर से शैव और लोक में वैष्णव होकर रहना यही आचार है। आत्मज्ञान से ही मुक्ति होती है। लोक-निन्दा वर्जनीय है। अध्यात्म यह है—व्रताचरण न करे, नियमपूर्वक न रहे। नियम मोक्ष का बाधक है। कभी कौन सम्प्रदाय की स्थापना नहीं करनी चाहिए सर्वत्र समता की बुद्धि रखनी चाहिए ऐसा करनेवाला ही मुक्त होता है—वही मुक्त होता है।

इस घक्कामार भाषा में जो बात मुख्य रूप से कही गई है वह यह है कि अद्वैत भाव की अनुभूति ही चरम लक्ष्य है। भेद-बुद्धि के कारण ही ऊँच नीच छोटा-बड़ा, पवित्र अपवित्र शोभन अशोभन का विचार किया जाता है। जो पहुँचा हुआ ज्ञानी है उसके लिए ये नियम और मर्यादाएँ अनावश्यक हैं।

आत्मा या परमात्मा कहीं बाहर खोजने की नहीं है। जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब पिण्ड में उपलब्ध है—ब्रह्माण्डेऽस्मिन् यत किंचित तत पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा। इसी शरीर में शिव और शक्ति की लीला निरन्तर चल रही है। मन्त्र शक्ति, जप और ध्यान के सहारे अन्तस्थित सच्चिदा भगवता को प्राप्त किया जा सकता है। परवर्ती काल के भक्ति मार्ग में इस विचार के ग्रहण किए जाने और स्वीकार करने के प्रयत्न हुए हैं। वस्तुतः भारतीय साहित्य इस साधना से पूर्णतः प्रभावित है। चाहे वह निर्गुण मार्गी भक्तों का साहित्य हो चाहे सगुणमार्गी भक्तों का उसके मूल में आगमों के तत्ववाद का प्रभाव है। भारतीय धर्म-साधना या शिल्प-साधना के रहस्यों को समझने के लिए तन्त्रसाहित्य के मूलसिद्धान्तों की जानकारी आवश्यक है।

इतने महत्त्वपूर्ण शास्त्र की उपेक्षा एक भयकर प्रमाद है। परन्तु खेद के साथ कहना पडता है कि यह प्रमाद हो रहा है और पता नही कब तक चलता रहेगा। सस्कृत-साहित्य के अनुरागियो के लिए तो इस शास्त्र का अनुशीलन आवश्यक है ही, परवर्ती भारतीय भाषाओ के साहित्य के अध्ययन के लिए भी परम आवश्यक है। आशा है सस्कृत-साहित्य सम्मेलन इस महत्त्वपूर्ण साहित्य के सम्पादन, प्रकाशन और प्रचार म अधिक सचेष्ट होगा। तन्त्र सोसाइटी ने इस दिशा म महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस देश म भी ऐसा प्रयत्न होना चाहिए और भारतीय भाषाओ के माध्यम से शास्त्रीय तत्त्वो की व्याख्या का प्रयत्न होना चाहिए। यदि हमारे देश के विद्वानो म ऐसा प्रयत्न करने की सद् बुद्धि आए तो आज की यह चर्चा सार्थक कही जाएगी। इस आशा को मन म रखकर मैं आपको अपनी हार्दिक प्रणति निवेदन करता हूँ।[1]

---

१ तन्त्रपरिषद (अखिल भारत सस्कृत साहित्य सम्मेलन दिल्ली, १९६६) के अध्यक्ष पद से दिया गया भाषण।

सविद्रूपा महामाया

तुलसीदासजी कह गये हैं कि इस जगत म सभी पदार्थ भरे पडे है, परन्तु कम हीन मनुष्य उन्ह पा नही रहा है—'सकल पदारथ एहि जग माही, करम हीन नर पावत नाही'। निस्सन्देह यह जगत 'पदार्थों से भरा है। पदार्थ, अर्थात् पदो के अर्थ, शब्दो के मतलब। घट एक शब्द है और ससार में जो एक विशेष आकार प्रकार का बना हुआ पात्र है वह उसका अर्थ है। व्यवहार की दुनिया म जो कुछ दिखाई दे रहा है वह किसी-न किसी पद का अर्थ है—पदार्थ है। यह जगत पदार्थों से भरा है। मगर इस तरह कहने-सुनने वाले मान लते हैं कि पद पहले है पद का अर्थ बाद म। घडा' नामक पदार्थ वस्तुत 'घडा' शब्द का अर्थ है। उस वस्तु का नाम घडा नही है बल्कि 'घडा' शब्द का वह अर्थ है। बात कुछ साफ नहीं हुई। यह भी सोचने का कोई ढग है? लेकिन इस देश के बडे-बडे दार्शनिक एसा ही कह गये हैं और हमारी भाषा इसी ढग से सोची हुई अभिव्यक्तियो को ढोती चली आ रही है। हम जानकर और अन-जान म भी वस्तुओ को पदार्थ कहते जा रहे हैं। कुछ बात होनी चाहिए। तुलसीदासजी के कथन के उत्तरार्ध से आज हम नहीं उलझने जा रहे हैं। सच मुच ही 'करमहीन नर' इन पदार्थों को पा रहा है या नही पा रहा है इस झमेले म अभी हम नहा पड रहे है। सवाल यह है कि जगत पदो के अर्थ स भरा है या इस दुनिया में जितनी चीजें दिखाई दे रही है, उनके लिए हम अलग अलग नाम दिया करते हैं शब्द बनाया करते हैं। शब्द नाम है और अर्थ 'रूप है, शब्द 'पद' है और उसके द्वारा अभिधेय वस्तु 'पदार्थ' है। इस विचित्र देश के विचित्र विचारक कहते आये हैं कि ससार पदार्थों से भरा है—जो कुछ दिख रहा है या अनुभूत हो रहा है, वह पद का अर्थ है। मन मानना नहीं चाहता

है वह अनन्त शून्यों का संघात है ! और काल की बात भी सोचिए। जो आनेवाला है और जो बीत गया, दोनों कभी थे या होंगे, इसका कोई सबूत है ? प्रत्यक्ष तो केवल एक क्षण है। हम सिर्फ एक क्षण को जानते हैं। परन्तु क्षण वह छोटा से छोटा है। कल्पना कीजिए, हम जिस वर्तमान को प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं वह कितना है। एक क्षण। और भी छोटा, और भी छोटा, और भी छोटा—कुछ नहीं, शून्य ! अर्थात् काल भी अनन्त शून्यों का संघात है। वह एक प्रतीति मात्र है। सो यह जो कुछ स्थान और काल के रूप में दिख रहा है वह कुछ नहीं है। दादू ने कहा था— कुछ नाहीं का नाम द, भरमा यह संसार !' भरम ही तो रहा है यह संसार। जो कुछ नहीं है उसका कुछ नाम दे देता है और जब नाम दे देता है तो उसका अर्थ भी समझने लगता है। जरा सोचिए कि किसी वस्तु का अनन्तवां भाग क्या सचमुच 'शून्य है ? अनन्त' और शून्य मनुष्य की बुद्धि की पराजय के सूचक हैं, भाषा में चलनेवाले काम चलाऊ शब्द हैं। नहीं तो कैसा अनन्त और कैसा शून्य !

यह अनन्तता विशुद्ध गति है शून्यता विशुद्ध स्थिति है। एक गति मात्र है दूसरा स्थिति मात्र है। आधुनिक बोली में पहला कंटिनुअम है दूसरा 'क्वंटम' है। तन्त्रशास्त्र में इन्हीं के लिए पारिभाषिक शब्द हैं नाद और बिंदु। नाद अनन्त गति है और बिंदु शून्यरूपा स्थिति। सत्य दोनों से पर है। जगत में जो कुछ रूप दिखता है वह गति और स्थिति का विलास है ! नाद बिंदु का उन्मिषित रूप है। इसलिए सारी सृष्टि नाद बिंदु का विलास है। नाद को ब्रह्म की इच्छा शक्ति कहते हैं बिंदु को क्रिया शक्ति। नाद पद रूप में प्रकट होता है बिंदु पदार्थ के रूप में। नाद शब्द है बिंदु रूप है। जो वास्तविकता है उसे ब्रह्म कहा जाता है। क्या यह मजेदार बात नहीं है कि जो शब्द और अर्थ के अतीत है उसे भी एक (ब्रह्म) नाम देना पड़ा वह भी वाक् या वाणी का विषय बना ! परन्तु नाम भले ही दे लीजिए ब्रह्म उसका अर्थ हो नहीं सकता। वह तो वस्तुतः अनुभव की वस्तु है ! गूंगे का गुड़ है। स्पष्ट है कि पद और पदार्थ नाद बिंदु के पचड़े हैं नाम रूपात्मक सृष्टि के निदर्शक हैं। जहाँ से नानात्व शुरू होता है वहीं से पद और पदार्थ शुरू होते हैं। जो लोग सोचते हैं कि पद पहले हैं पदार्थ बाद में उनको स्पष्ट मालूम है कि 'पहले' और 'बाद' में ये शब्द प्रतीति मात्र है। अपने आप में ये एक प्रकार की प्रतीति की धारणा लिये हुए हैं।

एक बार मस्तृत के एक विदेशी विद्वान् शान्तिनिकेतन आये थे। जब मैंने उन्हें आम्रमंजरी दिखाई तो वे आनंद से उछल पड़े। बोले यही वह आम्रमंजरी

है, जिसका वर्णन करते संस्कृत के कवि नहीं अघाते ? उन्होंने अपार रूप प्रकट किया। मैं सोचने लगा कि ये न जाने कब से 'आम्रमंजरी' शब्द पढ़ते आ रहे हैं और कई दिनों से उसका अर्थ—आम्रमंजरी पदार्थ—भी देख रहे हैं पर आनन्द आज हो रहा है। इनके सामने पदार्थ था, शब्द भी था, फिर नवीनता कहाँ आई ? नवीनता असल में प्रतीति में थी। शब्द और पदार्थों को जोड़नेवाला भी कोई तत्त्व है। वह हमारे भीतर बैठा हुआ चैतन्य है। योगशास्त्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्थापन करनेवाला तत्त्व ही प्रत्यय कहा जाता है। कहने का मतलब यह है कि केवल नाम और बिंदु ये दो ही तत्त्व मानने से काम नहीं चलेगा। इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित करनेवाला भी कोई तत्त्व होना चाहिए। जैसे नाद ब्रह्म की इच्छा शक्ति है, बिंदु क्रिया शक्ति है, वैसे ही ब्रह्म की एक ज्ञान शक्ति है। इस प्रकार सारा परिदृश्यमान जगत् ब्रह्म की ज्ञान शक्ति, इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति से त्रिपुटीकृत है। कुछ ज्ञाता है, कुछ ज्ञान है, कुछ ज्ञेय है। इसी त्रिपुटीकृत शक्ति का संहत रूप त्रिपुरा कहा जाता है। कहते हैं किसी समय ब्रह्म को—जिसे शाक्त आगम शिव कहना पसंद करते हैं—इच्छा हुई कि मैं एक हूँ, अनेक होऊँ और वह अनेक बना। 'मैं एक हूँ' यह उसकी ज्ञान शक्ति का विलास है, 'अनेक होऊँ' यह उसकी इच्छा शक्ति का विलास है और अनेक हो जाना क्रिया शक्ति का विलास है। इस प्रकार वह प्रपंचात्मक त्रिकोण बनता है, जिसके मूल में ज्ञान है और दोनों ऊपर की ओर जानेवाली भुजाएँ इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति हैं और उनके ऊपरले किनारों को जोड़नेवाली रेखा प्रत्यय या प्रतीति है।

शाक्त तंत्र इसे अधस्त्रिकोण कहते हैं और अनेक रूपों में इसका उल्लेख करते हैं। शिव ही पिंड में जीवरूप से बैठा है। फिर जब उसे ज्ञान होता है कि मैं अनेक हो गया हूँ, एक होऊँ और एक होने की ओर अग्रसर होता है तो ऊर्ध्वमुख त्रिकोण बनता है और वह मुक्त हो जाता है। इसी ऊर्ध्वमुख त्रिकोण के योग से अधोमुख त्रिकोण श्रीचक्र बनता है—प्रतीक रूप में इसी को योनि और लिंग कहते हैं। इसी का उपरला आधा शिव का त्रिशूल है और निचला आधा शक्ति का पाश है। शक्ति, ब्रह्म का अनेकत्व की ओर जानेवाला रूप है, शिव एकत्व की ओर। एक माया है, दूसरा मोक्ष है। शाक्त आगमों में न जाने कितने रूपों में इसे समझाया गया है और कितने प्रतीकों के द्वारा इसे अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। प्रतीकों के अंतर्निहित अर्थ को देखना चाहिए। उन्हीं को चरम और परम मान लेना बुद्धिमानी नहीं है।

शब्द को इच्छा शक्ति का स्थूल रूप मानने से ही पद का प्रथम स्थान है

पन्ताय का परवर्ती। परन्तु यह सीमित चित्त का विकल्प मात्र है। पद हो या पन्ताय, न्ताना मूल नान के बाद ही आते है। कसा आश्चय है कि अनन्त पदा और पनार्थों का यह जगत् वस्तुत अनन्त न्यूया का सघात है अर्थात प्रतीतिमात्र है। जिस यह प्रतीति हो रही है वही सत्य है। और फिर भी जो प्रतीन हो रहा है उसे अतिम विश्लेषण के बाद न्यूय कहना और अन्तिम सश्लेषण के बान्त अनन्त कहना कवल मानव-बुद्धि की पराजय की कहानी मात्र है। यह बुद्धि हारती है पर हार नहो मानती। थकती है पर थकन का नाम नन्ही लेती। जो कुछ दिख रहा है या न्खि सकता है सबको छापना चाहती है छाप नही पाती छाप न पाने स हार नहा मानती। यद्यपि इसकी सीमा स्पष्ट है पर इसके पीछ काई सीमाहीन सत्य काम कर रहा है यह बात भी उतनी ही स्पष्ट है। इम बुद्धि के पीछे काम करन वाली जो असीम शक्ति है, उसी का नाम शक्ति है, दवी है त्रिपुरा है, महामाया है। वह पदा की कल्पना करती है पन्तार्थों की सष्टि करती है और पद और पन्तार्थों की प्रतीति का हेतु बनती है। इस तीन रूपात्मक जगत म वह अनक रूपो—अनन्त रूपा—म देखी जा सकती है। फिर भी वह एक है। एस पद भी हैं जिनका अथ किसी ने कभी दखा नही। भावजगत म स्थित वे पन्ताय भी उसी की सष्टि हैं। स्वग है, अपवग है कल्प वक्ष है कामधेनु है—पन्त हैं पर पन्ताथ किसी न दखा नही। स्थूल जगत म वे अप्राप्य हैं, पर भावजगत म वह उन्हे उपल ध करा सकती है

> सवस्य बुद्धिरूपेण जनस्य हृदि सस्थिते
> स्वर्गापवगदे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते।

जो कहता है कि यह दश्यमान जगत पदार्थों से भरा है वह वस्तुत यह मान कर चलता है कि समस्त दृश्यमान जगन के पीछे किसी चतन की इच्छा शक्ति काम कर रही है। फिर जो कहता है कि काल व्यक्ति चित्त की प्रतीति मात्र है वह मानता है कि प्रतीति क पाछ काम करनेवाली कोई बडी शक्ति है। इसी लिए समष्टि चित्त की प्रतीति का हमारे शास्त्रकारो न 'कल्प कहा है। प्रत्येक पुराण कल्प और सष्टि की बात बताता है। कल्प समष्टि चित्त की कल्पना या इच्छा है। सष्टि उसकी क्रिया है।

नान्त या शान्त क्या है? वस्तुत यह एक प्रकार का कम्पन है। उपनिषदा की भाषा म एजन है, आधुनिक वज्ञानिक इसे वाइब्रेशन कहना पसद करता है। आज यह बात तक साध्य नही रह गई है कि नान्द और प्रकाश और नाद और कपन य सब एक दूसरे के रूप म बदले जा सकत हैं। केवल वज्ञानिक की प्रयोगशाला म ही नहीं व्यवहारजगत म भी बदले जाने लगे हैं।

क्योकि, ये सब एक ही शक्ति क मायाभय स बनी हुई चीज हैं। इसलिए ग्राज गति या कपन या एजन की मूल शक्तिरूपता सदेह का विषय नही रह गई है। यह गति कहाँ स ग्राती है। कौन है जो केवल स्थितिरूपा, निस्पद निष्कप, स्थिर सत्ता म विक्षोभ पदा करता है कपन की तरग उल्लसित करता है निस्प दता मे विस्फोट लाता है ? वनानिक चुप है। मनुष्य की बुद्धि हैरान है। परन्तु हैरान होकर भी वह चुप नही रह सकती। कही से ग्रावाज ग्रा रही है कि कोई है जो उसे गति दे रहा है। गति किसी की इच्छा है तभी यह सब स्पदित हो रहा है। यह भीतर की ध्वनि है—हा, वह है! ऋषियो की बोला म वह तो ग्रोम, तत सत—हा वह है।

इस दश म ऐसे भी मनीषी हुए है जिन्होने क्षण तक ग्राकर रुक जाना पसद किया। क्षणभर—बहुत ही छोटा क्षण ग्रर्थात शून्य ! सब क्षणिकम। सब शून्यम। मगर इन ग्रनत शून्यो के सघात स बने काल ग्रौर दश की प्रतीति को क्या भुलाया जा सकता है ? कुछ मनीषी ऐसे है जो क्षण तक रुक तो नही जाते पर प्रतीति क धोखे को मानने स भी इनकार करत है। शाक्त ग्रागम ग्रद्वत तत्त्व म विश्वास करत हैं—चतन ग्रद्वत तत्त्व म। परन्तु प्रतीति को धोखा नही कहत। यह जो कालखडो क माध्यम स परिणत होता हुग्रा जगत दिख रहा है, वह ग्रपन ग्राप म चाहे जसा हो प्रतीत हो ग्रवश्य रहा है। कौन इस परिणाम का नियन्ता है। कला ग्रौर काष्ठा—काल ग्रौर देश की छोटी स छोटी सीमा—ग्रादि क रूप म विश्व की परिणति हम दख रहे है। कौन है इस परिणाम की प्रेरणादायिनी शक्ति ? शाक्त ग्रागमो ने चित्तत्त्व की इसी चित् शक्ति को सकडो नाम दिए है

कलाकाष्ठादिरूपेण परिणामप्रदायिनी।
विश्वस्योपरतौ शक्ते नारायणि नमोऽस्तु ते॥

इन शून्योपम काल खडो के भीतर से परिणत होत हुए शून्योपम बिंदुखडो क विपुल सघात म जो ग्रपार शोभा है वह क्या धोखा मात्र है ? हरे हरे तृण शाद्वलो स शोभित धरित्री विशाल वनस्पतियो स भरापूरा वनप्रदेश कल-कल निनाद स मुखरित स्रोतस्विनी म प्रतीयमान सौदय क्या छलना मात्र है ? इस ग्रलोक्य सौभग रूप की सूत्रधारिणी ध य है। नाम उसक ग्रनेक है, रूप उसके विपुल हैं पर है वह एकमात्र सवित—चिद्रूपा भगवती। रूप, रस वण, गध स भरे इस विश्व की सूत्रधारिणी सविद्रूपा महामाया।

ग्रलोक्यसौभगे देवि विश्वरूपस्य सौत्रिके।
सविद्रूप महामाये परस्पदस्वरूपिणि॥

शक्ति का सविद्रूपा होना इन आगमों की विशेष देन है। आश्चर्यजनक ढंग से उनका प्रतिपादन आधुनिक विज्ञान से मिलता है। केवल विनाश शक्ति की सविद्रूपता स्वीकार करने में हिचकता है। कब तक ?

तांत्रिक वाङ्मय मे शाक्त दृष्टि

भारतवष के मूद्ध य विद्वान महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज महादय का अत्यन्त महत्त्वपूण ग्रन्थ तात्रिक वाङ मय मे शाक्त दृष्टि है। यह ग्रन्थ हाल ही म बिहार राष्टभाषा परिषद पटना की ओर से प्रकाशित हुआ है। कविराजजी नाना शास्त्रो के ममन है परन्तु आगम शास्त्रा के तो वे अद्वितीय विद्वान हैं। वे स्वय उच्च काटि के साधक हैं और शास्त्रीय ज्ञान उनके लिए केवल बुद्धि विलास नही है। व उसम रच हुए है और वह उनमे रमा हुआ है।

भारतवष का त त्र साहित्य बहुत विशाल था। अब भी बहुत कुछ नष्ट हो जान क बाद जो कुछ बचा हुआ है वह बहुत विस्तीण है। शव शाक्त वष्णव जन बौद्ध आदि सम्प्रदायो म तत्र का विशाल साहित्य उपलब्ध होता है परन्तु कविराजजी ने इस ग्रन्थ की प्रस्तावना म ही स्पष्ट कर दिया है कि इस प्रसग म तात्रिक साहित्य शब्द से शाक्त और शव आगम तथा तन्मूलक ग्रन्थ समझना चाहिए। यद्यपि वष्णवागमा म भी शाक्त दष्टि है और आगमिक सस्कृति का साधारण पष्ठभूमि का प्रकाश उसम भी लक्षित हाता है तथापि उसकी आलोचना पथक रूप स होनी चाहिए। यह समझ कर उस स्थान नही दिया गया। इस प्रकार इस ग्रन्थ म शव और शाक्त आगमा म उपलब्ध हान वाली शाक्त दृष्टि की ही चर्चा है परन्तु प्रसग क्रम स अनेक स्थला पर अन्यान्य आगमा की चर्चा भी आ ही गई है। ग्रन्थ का पाठक अ याय आगमा स एक दम अपरिचित नही रह जाएगा कविराजजी की प्रतिपादन शला की एक बडी विशषता यह है कि व एक मत क सिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय अन्यान्य दशना क समानान्तर सिद्धान्ता का प्रतिपादन भी कर जाते हैं और यह

बताना नही भूलते कि अन्यान्य मनो से प्रतिपादित मत का पार्थक्य किस बात म है। कभी कभी वे पाठक को सहज ही समझा देते हैं कि दूसरे दर्शनों म अन्य नाम स प्रसिद्ध होने पर भी इन मतो क अमुक अमुक शब्द वस्तुत समानार्थक हैं। इससे पाठक का ज्ञान-परिसर तो बढ़ता ही है किसी परिचित शब्दावली के सहारे अपरिचित तत्त्व को हृदयगम करने म उसे आसानी भी होती है। कविराजजी की यह शैली बडी प्रभावोत्पादक है। पाठक को इससे प्रतिपाद्य के ठीक ठीक स्वरूप को समझने मे बडी सुविधा होती है।

तान्त्रिक साहित्य म जो शाक्त दृष्टि है, वह क्या है ? कविराजजी ने बताया है कि यह शक्ति शिव से अभिन्न होने पर भी विश्वसृष्टि का मूलभूत है। इसका परिणाम नही होता, परन्तु प्रसर तथा सकोच होता है। भोक्ता तथा भोग्य दोनों ही शक्ति रूप हैं। इनकी नियामिका भी शक्ति है। वस्तुत अभिनय भी शक्ति ही करती है और अपने अभिनय की प्रेक्षिका भी शक्ति ही है। स्वरूप स्थिति म जीव भी शक्त्यात्मक होने के कारण द्रष्टामात्र है। तटस्थ जीव स्वरूपत द्रष्टा, माया जाल से बद्ध भोक्ता तथा किंचित जाग्रत जीव ही अभिनेता है। पूर्ण जागरण के अन्त म जीव ही शिव रूप म प्रकट होता है। उस समय पूर्ण शक्ति उसी की निज शक्ति है। साधारण पाठक के मन म प्रश्न होगा कि यदि यही तन्त्र-वाङ मय की शाक्त दृष्टि है तो वह अद्वैत वेदान्तियो के जीवो ब्रह्म व नापर का ही क्या शब्दान्तर म कथन नही है ?

इसके उत्तर म कहा गया है कि—

'महाशक्ति अथवा स्वातन्त्र्यमयी चिति शक्ति परम शिव के साथ अभिन्न रूप म विराजित है। इस अवस्था म शिव और शक्ति म सामरस्य रहता है। शैव इसको शिव की सज्ञा देते हैं और शाक्त इसे शक्ति कहते हैं। परन्तु है यह (परम शिव) अखड स्वरूप एक ही वस्तु जिसम प्रकाशात्मक शिव के साथ विमर्श या अतिशय या स्वभाव का तादात्म्य है। यही सवित है। प्रकाश म यह धर्म (शक्ति) न रहने पर उसम अर्थ का पराग पडने पर भी स्फटिक के सदृश वह प्रकाश जड सा ही है। यही प्रकाश का कर्तृत्व रूप जड धर्म है। यह स्वाभाविक है, आरोपित नही। शक्ति हीन प्रकाश (शिव) स्वतन्त्रता के अभाव से महेश्वर नही कहा जा सकता। ब्रह्मवाद से शाक्त दृष्टि की यही विलक्षणता है। प्रकाश जसे ग्राह्य का प्रकाशक है वसे ही ग्राहक का भी। परन्तु इस शक्ति रूप विमर्श के स्फुरण या औन्मुख्य का सम्बन्ध होने पर प्रकाश म कर्तृत्व आ जाता है। तब तक प्रकाश आणवादि मल राशि को दग्ध करने म समर्थ होता है। इसका फल यह होता है कि इन सब मलो का प्रकाश के स्वरूप मे

अनुप्रवेश हो जाता है। यहाँ मल शब्द का अर्थ भी समझ लेना चाहिए। पुण्य पाप की वासना से जिस मल का उद्भव होता है उस मल का नाम 'कार्मण मल' है। वेद्य वस्तु को अपने स्वरूप से भिन्न समझना मायी मल है तथा अपूर्णमन्यता अथवा जीवत्व आणव मल के नाम से प्रसिद्ध है। अग्नि की उष्णता, चन्द्रमा की शीतलता, नदियों की मृदुता, पाषाण की कठोरता, साधारण मनुष्य का मोह और योगी का ज्ञान यह सब परमेश्वर का स्वातन्त्र्य मात्र है।

'शाक्त दृष्टि का एक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें परम प्रकाश का निष्क्रियत्व स्वीकार नहीं किया जाता। वस्तुतः इस मत में परम स्थिति में भी तदनुरूप शक्ति रहती है। स्वरूप दृष्टि से देखने से यह शक्ति क्रिया से अभिन्न है। उस परम प्रकाश या स्वात्म को सत् मानने पर भी उसमें भवनाख्य क्रिया माननी पड़ती है एवं उस क्रिया का कर्ता उसे मानना पड़ता है। यह जो भवन क्रिया है यह कर्तृत्वमयी है। इसी का पारिभाषिक नाम है विमर्श। यह भवन या सत्वसामान्य रूप है। भाव के माने हैं क्रिया इसलिये धातु का अर्थमात्र ही क्रिया है जिसकी दो अवस्थाएँ हैं—जब यह आत्मस्वरूप में स्थिति मात्र है तब उस विमर्श का नाम है शुद्ध विमर्श परन्तु जब यह क्षोभ का अनुभव करता है अर्थात् जब इसमें विकल्पों का उन्मेष होता है तब विचित्र प्रपंच का स्फुरण होता है। यही तान्त्रिक परिभाषा से विमर्श का विश्वविस्तार कहा जाता है। यह कहना अनावश्यक है कि प्रकाश का स्वभाव ही शक्ति है। इसलिये प्रकाश स्वभावतः ही कृत्यकारी है। इन कृत्यों का सम्पादन आगन्तुक धर्मों से निष्पन्न नहीं होता।

कहने का तात्पर्य यह है कि जो प्रचलित ब्रह्मवाद है उसमें चित् शक्ति की स्वतन्त्रता नहीं स्वीकार की गई। ब्रह्म सृष्टि के लिये जब ईश्वर रूप में आता है तो उसमें जो ऐश्वर्य है वह स्वाभाविक नहीं है बल्कि औपाधिक तथा आगन्तुक है जब कि शाक्त दृष्टि से वह स्वाभाविक है। वस्तुतः शिव का जो स्वभाव है—अपना निजी भाव—वही शक्ति है। इसीलिये आगमसम्मत चित् स्वरूप में ऐश्वर्य औपाधिक नहीं है स्वाभाविक है। परम शिव में प्रकाश (शिव) और विमर्श (शक्ति) एकमेक होकर स्थित हैं। इसीलिए प्रकाश रूप शिव और विमर्श रूप शक्ति में तादात्म्य सम्बन्ध है। कविराजजी ने और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ज्ञानी की भाषा में अद्वैत शिव का नाम परम शिव है और उपासक की भाषा में अद्वैत शक्ति का नाम महाशक्ति या परमाशक्ति है। दोनों नाम एक ही अखण्ड सत्ता के निर्देशक हैं—शाक्त मत स्वतन्त्राद्वैत

वान् है। इस मत मे कोई भी तदव्यतिरिक्त नही माना जाता। इसीलिए शिव और शक्ति का वास्तविक रूप एक्य स्वभाव है

त्व यथा शिव मयो तथा शिव
स्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनो
तत्त्वमेवमवहिमु खास्पद
यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया। (कोमल वल्लीस्तव)

परमाणु स लेकर ब्रह्माण्ड तक सवत्र यह अद्वय अखड शक्ति व्याप्त है। स्थावर उद्भिद पशु पक्षी आदि चौरासी लाख योनियो म भ्रमण करता हुआ जीवन मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। मनुष्येतर योनिया सिफ भोग योनि हैं। उनम प्राक्तन शुभाशुभ कर्मों का भोग किया जाता है। मनुष्य पूव योनिया म कवल अन्नमय और प्राणमय कोष हाते है। मनोमय कोष का विकसित रूप मनुष्य दह म मिलता है। इसम मनुष्य केवल भोगता नही कुछ करता भी है। यह कत त्व का अभिमान भी एक विकट बाधन है। अनक जन्मजन्मान्तर तक वह बाधता ही रहता है। साधना द्वारा धार्मिक आचरण द्वारा गुरु की कृपा स भगवान का अनुग्रह प्राप्त होन पर ही विवेक ज्ञान होता है और मनुष्य अपन आपको पहचान पाता है और उस इस अद्वय तत्त्व का साक्षात्कार होता है। मनुष्य अपन चतन्य का केवल चैतन्य रूप म साक्षात्कार करता है। योगी इसी से सतुष्ट हो जाता है, कवल्य की अनुभूति का ही नाम कवल्य है। पर शाक्त दृष्टि यही नही रुकती। सिफ अपन को जड तत्त्वो स पथक कवल रूप म अनुभव कर लेना ही पर्याप्त नही है। इस अनुभव का आनन्द लेना और भी गहराई की साधना है। जब तक इस आनन्द की उपलब्धि नही होती तब तक जीव शिव नहा बनता। शिव जो स्वभावत शक्ति युक्त है जो समस्त विश्व म प्रतीत होकर भी विश्वमय है। यह शाक्त दृष्टि की विलक्षणता भक्ता और सन्तो म भी मिलती है। इस परम सत्य की अनुभूति और अनुभूति का रसास्वादन ही मनुष्य क जीवन को चरिताथ करता है।

इस ग्रथ क अनुशीलनार्थी को भारतीय दाशनिक परम्परा का अपेक्षित ज्ञान अपक्षित है। कविराजजी ने अनक प्रसगो का इंगित म उल्लेख किया है जो आरभिक जिज्ञासु क लिए कुछ कठिन प्रतीत होत हैं। वस्तुत कविराजजी क लिए शास्त्र करामलक की भाति है। एक प्रसग को छोडन पर अनायास उसमे सम्बद्ध अयान्य प्रसग उपस्थित हो जाते है। सब का पारमार्थिक रूप शाक्त दृष्टि स क्या है किस प्रकार परम शिव से इस सृष्टि का प्रसार हुआ है, अद्वत और द्वत तत्त्व के भिन्न भिन्न स्तरो का रहस्य क्या है, भगवदनुग्रह

प्राचीन जीवन के सुकुमार विनोद

यदि रस भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है और निस्सन्देह बहुत ही महत्वपूर्ण देन है जो भारतवर्ष ने संसार के साहित्य को दी है तो फिर प्रश्न यह उठता है कि क्या कारण है कि 'रस' को प्रधान वस्तु समझ कर भी भारतीय कवि और काव्यशास्त्री काव्य में ऐसी बहुत सी शब्द चातुरी का स्थान देते हैं जिनका रस से कोई सम्पर्क नहीं। अक्षरच्युतक मात्राच्युतक बिंदुमती प्रहेलिका[1] आदि के साथ रस का कोई सीधा सम्बन्ध तो है ही नहीं

---

१ अक्षरच्युतक—ऐसा श्लोक जिसमे से एक अक्षर हटा देने से दूसरा कवि वाछित अर्थ की प्रतीति हो। जैसे—कुर्वं दवाक्राश्लेष दधच्चरणा डबरम। देव यौस्माक्सेनाया करेणु प्रसरन्यसौ। इसका अर्थ यह है कि हे महाराज, तुम्हारी सेना का करेणु (हाथी) सूर्य के बिंब को ढकता चलने का आडबर करता हुआ फल रहा है। इसमे करेणु शब्द का क अक्षर हटा दें तो रेणु (=धूल) रह जायगा और अर्थ स्पष्ट हो जायगा।

मात्राच्युतक—ऐसा श्लोक जिसमे एक मात्रा (आकार इकार आदि) हटा देने पर कवि वाछित अर्थ प्रकट हो जाय।

बिंदुमती—ऐसा श्लोक जिसमे अक्षरो की जगह पर बिंदु देकर मात्राएँ दी गई हो। इन बिंदुओ पर से श्लोक को पढ़ना होता है—जैसे

ि० ००० ०॒०ा ० ० ि० ० ि०ो ०॒०॒० ०ो ० ०॒।

अर्थात त्रिनयन चूड़ा रत्न मित्र सिंधो, कुमुद्वती वधु।

प्रहेलिका—ये प्रहेलियाँ हैं जिनके अनेकानेक भेद शास्त्र में बताये गये हैं। कभी श्लोक के भीतर ही इनका जवाब होता है कभी बाहर। किसी किसी ने इसके दो भेद किये हैं—शाब्दी और आर्थी। अनावश्यक समझ कर इनका यहाँ विस्तार नहीं किया गया।

उद्‌ट जैसा कि विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है ये रस के परिपंथी हैं। फिर यमक अनुप्रासों और चित्र-काव्यों की लम्बी सूचियां जो इन्हीं आदि प्राचीन आलंकारिकों के ग्रन्थों में अनायास मिल जाती हैं क्या इतना महत्त्वपूर्ण स्थान अधिकार कर सकीं ? इन्हीं भामह और रुद्रट जैसे आचार्य क्या समझ नहीं सके थे कि ये शब्दों की भूलभुलैयां काव्य की कोटि में नहीं आ सकतीं ? इसी तरह अन्य शास्त्रों में भी प्रश्न उठते हैं। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हम थोड़ा और विचार कर लेने की जरूरत है। आगे हम इसी विचार का प्रस्ताव करते हैं।

जिन दिनों संस्कृत में बड़े-बड़े काव्य लिखे गये थे उन दिनों की सामाजिक स्थिति आज की जैसी नहीं थी। उन दिनों का सहृदय कैसा होता था यह जाने बिना उस युग के काव्य प्रयत्नों को हम ठीक ठीक नहीं समझ सकते। सहृदयों को लक्ष्य करके ही ये काव्य लिखे गये थे। ये सहृदय अधिकतर शहर के रहने वाले या नागर थे। उन्हें खास खास कलाओं का अभ्यास कराया जाता था और उनके मनोविनोद के साधनों में काव्य चर्चा का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। उन दिनों किसी भी पुरुष को जो राज सभा और सहृदय गोष्ठियों में प्रवेश करने की इच्छा रखता था, अपने को इन गोष्ठी चर्चाओं का उपयुक्त पात्र प्रमाणित करना पड़ता था। कादंबरी में वैशम्पायन नामक तोते को जब चाण्डाल-कन्या राजा शूद्रक के पास ले गई तो उसके साथी ने उस तोते में उन सभी गुणों का उल्लेख किया जो राज सभा में सदस्य होने की योग्यता प्रमाणित करते थे। उसने कहा था[1] कि यह तोता सभी शास्त्रों को जानता है राजनीति प्रयोग में कुशल है पुराण इतिहास की कथा कहने में निपुण है गान और बाईस श्रुतियों[2] का जानकार है, काव्य, नाटक आख्यायिका आख्यानक

---

१ विदितसकलशास्त्रार्थ राजनीतिप्रयोगकुशल पुराणेतिहासकथालाप निपुण वेदिता गीतश्रुतीना काव्यनाटकाख्यायिकाख्यानकप्रभृतीनामपरिमिताना सुभाषितानामध्येता स्वय च कर्ता, परिहासालापपेशल वीणावेणुमुरजादी नामसम श्रोता नृत्तप्रयोगदर्शननिपुण चित्रकर्मणि प्रवीण द्यूतव्यापारे प्रगल्भ प्रणयकलहकुपितकामिनीप्रसादनोपायचतुर गजतुरगपुरुषस्त्रीलक्षणभिज्ञ सकलभूतलरत्न भूतोय वैशम्पायननामा शुक।—कादंबरी कथामुख

२ सगीत में सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्च्छनाएँ उनचास तान और बाईस श्रुतियां होती हैं—

सप्तस्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनाश्चैकविंशति ।
ताना एकोनपञ्चाशदद्वयधिका विंशति श्रुति ॥

इत्यादि अनवातेक सुभाषितो का पाठक और कर्ता है परिहासालाप म चतुर है वीणा वणु मुरज आदि वाद्यों का अनुकरणीय श्रोता है, नृत्त प्रयाग के दशन म निपुण है चित्र कम म प्रवीण है द्यूत-व्यापार म प्रगल्भ है प्रणय-कलह म कोप की हुई मानवती प्रिया को प्रसन्न करन म चतुर है और हाथी, घाडा पुरुष और स्त्री क लक्षणा का जानकार है । इसी ग्रथ म आग चलकर राजकुमार चद्रापीड की शिक्षा क प्रसग म बताया गया है कि उन्ह निम्नलिखित क्रियाएँ सिखाई गई थीं[1]—पद, वाक्य प्रमाण, धमशास्त्र राजनीति, व्यायाम विद्या चाप चक्र चम-कृपाण शक्ति तोमर परशु गदा प्रभति हथियारो का चलाना रथ चर्या हस्तिपृष्ठ वीणा-वेणु-मुरज कास्य-ताल-दर्दुर पुट प्रभति वाद्यो का बजाना भरतादि प्रणीत नृत्त शास्त्र, नारद प्रणीत गाधव वेद, हस्ति शिक्षा घोडे की उमर पहचानना, पुरुष लक्षण, चित्र कम पत्रच्छेद्य, पुस्तक-व्यापार लेख्य कम समस्त द्यूत कलाएँ पक्षियो की आवाज़ पहचानन की विद्या ग्रहगणित रत्न-परीक्षा दारुकम (बढई का काम), हाथीदाँत का व्यवहार, वास्तु विद्या, आयुर्वेद मत्र प्रयाग विष दूर करना सुरगभेद तरना लाँघना कूदना इद्रजाल कथा नाटक आख्यायिका काव्य महाभारत-पुराण इतिहास रामायण सभी लिपियाँ, सब देशी भाषाए सभी सज्ञाएँ या परिभाषाए सभी शिल्प छद और अन्यान्य कलाएँ । यह समझना भल होगा कि काव्य ग्रथा म बताइ गई य कलाएँ और उनकी शिक्षा एक कवि-कल्पित व्यापार है । वात्स्यायन का काम सूत्र निश्चित रूप स कवि की कल्पना नही है बल्कि वास्तविक परिस्थितियो का बतान वाला ग्रथ है । इस ग्रथ के अनुसार उन दिनो क नागरिको को जिन चौंसठ कलाओ का अभ्यास करना आवश्यक माना जाता था उनमें काव्यागो और अन्य ललित कलाओ का ज्ञान आवश्यक अग है। वह नायक गुणवान माना जाता था जो विद्वान हो आख्यान-कुशल या अच्छी कहानी कहने वाला हो, वाग्मी हो विविध शिल्पो को जानन वाला हो उत्साह-परायण हो, त्यागी हो मित्र वत्सल हो, घटा-गोष्ठी समाज आदि म हिस्सा लने वाला और उनका सगठन करन वाला हो क्रीडनशील हो निरोग हो जिसका शरीर विकृत न हो प्राणवान हो और मद्यपान न करता हो।[2] कामसूत्र की ६४

---

१ कादम्बरी पृ० १४७ १४६

२ विद्वान कविराख्यानकुशलो वाग्मी विविध शिल्पज्ञो महोत्साहस्त्यागी मित्रवत्सलो घटागोष्ठी प्रेक्षणकसमाजसमस्या क्रीडनशीलो नीरुजोऽव्यग्रशरीर प्राणवान मद्यप ।—कामसूत्र ६ १

कलाओं¹ में कई का संबंध शास्त्र और अन्य अर्थात् काव्य से है।

इन चौंसठ कलाओं में लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्य हैं, बाकी में कुछ नायक-नायिकाओं के विलास-क्रीड़ा के सहायक हैं, कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं। गाना, बजाना, नाचना, चित्रकारी (आलेख्य) क्रिया के कपोल और ललाट आदि की शोभा बढ़ाने वाले भोजपत्र के काटे हुए पत्तों की रचना करना (विशेषकच्छेद्य) फर्श पर विविध रंग के पुष्पों और रंग हुए चावलों से नाना प्रकार के नयनाभिराम चित्र बनाना (तंडुल कुसुम विकार), फूल बिछाना, दाँत और वस्त्रों को रंजित करना, फर्श की सेज रचना, दाँत रंगना, वस्त्र रंगना, ग्रीष्मकाल में क्रीड़ा के लिए मरकत आदि पत्थरों का फर्श बनाना, सेज बिछाना, जल-क्रीड़ा में मुरज आदि बाजा बजाना, कौशलपूर्वक प्रेयसी के प्रति पानी के छींटे फेंकना, माला गूँथना, केशों को पुष्पों से सजाना, देश और काल के अनुसार शरीर सजाना, कान के लिए हाथीदाँत के पत्तरों से आभरण बनाना, सुगंधित धूप-दीप और बत्तियों का प्रयोग जानना, गहना पहनाना, इंद्रजाल और हाथ की सफाई, ताली आदि का सीना, नाना प्रकार के भक्ष्य-भोज्य बनाना, सब्जी, शरबत आदि तैयार करना, सूत आदि से आसन बनाना, बीना, वीणा, डमरू आदि बजा लेना इत्यादि कलाएँ उद्दिष्ट…

१ गीतम् वाद्यम् नृत्यम् आलेख्यम् विशेषकच्छेद्यम् तंडुलकुसुमबलिविकारा पुष्पास्तरणम् दशनवसनांगराग मणिभूमिकाकर्म शयनरचनम् उदकवाद्यम् उदकाघात चित्राश्चयोगा माल्यग्रथन विकल्पा शेखरकापीडयोजनम् नेपथ्यप्रयोगा कर्णपत्रभंगा गंधयुक्ति भूषणयोजनम् ऐंद्रजाला कौचुमाराश्च योग हस्तलाघवम् विचित्रशाकयूपभक्ष्यविकारक्रिया पानकरसरागासव योजनम् सूचीवानकर्माणि सूत्रक्रीडा वीणाडमरुकवाद्यानि प्रहेलिका, प्रतिमाला दुर्वाचकयोगा पुस्तकवाचनम् नाटकाख्यायिकादर्शनम् काव्यसमस्यापूरणम् पट्टिकावेत्रबानविकल्पा तक्षकर्माणि तक्षणम् वास्तुविद्या रूप्यरत्नपरीक्षा धातुवाद मणिरागाकरज्ञानम् वृक्षायुर्वेदयोगा मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधि शुकसारिका प्रलापनम्, उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम्, अक्षरमुष्टिका कथनम् म्लेच्छितविकल्पा देशभाषाविज्ञानम् पुष्पशकटिका निमित्तज्ञानम् यंत्रमातृका धारणमातृका संपाठ्यम् मानसीकाव्यक्रिया अभिधान कोष छंदो ज्ञानम् क्रियाकल्प छलितकयोगा वस्त्रगोपनानि द्यूतविशेषा आकर्षक्रीडा बालक्रीडनकानि वैनयिकीना वैजयिकीना व्यायामिकीनां च विद्याना ज्ञानम् इति—कामसूत्र १ ३

नागरिका के लिए आवश्यक समझी जाती थी। इनसे अपना घर और शरीर तो सजाना अभीष्ट ही था, असल उद्देश्य प्रेमी और प्रेयसिया को सन्तुष्ट करना था। संस्कृत साहित्य मे इन कलाओं का भूरि भूरि वर्णन मिलता है। किसी विलासिनी को इसलिये फूली हुई देखकर कि उसके प्रिय ने अपने हाथों उसके कपोल-तल पर मंजरी बना दी है कोई सुहागिनी फिकर कस रही है— अजी और कोई भी ऐसी ही फूली फिर सकती थी यदि कम्बख्त कंपन ही दुश्मन न हो जाती[1] कहीं अभिसारिकाओं की जल्दबाजी से केशों से गिरे हुए मन्दार पुष्पों, कान से भ्रष्ट स्वर्ण कमल और पत्रच्छेद्या तथा वक्षस्थल पर से टूटकर गिरे हुए हार के मोतियों से कामिनियों का अभिसार मार्ग सूर्योदय होते ही स्पष्ट ही सूचित हो जाता था,[2] कहीं सखियों द्वारा ललाट और कपोल देश पर रचित चन्दन पत्र-लेखा ऐसी दिखाई देती थी मानो ईषत् पाण्डुर और क्षाम कपोल भित्ति पर लगे हुए कामदेव के बाणों से जो घाव हो गया है उसी की पट्टी है[3] कहीं जल क्रीडा के समय पानी के भीतर से बजता हुआ मदंग—जो तीर पर चक्कर काटने वाले उत्कलाप मयूरों की केका से अभिनंदित होता रहता था—विलासिनियों के कान मे प्रविष्ट होकर उनके कान और कपोल लाल कर देता था[4], कहीं जलकेलि के समय खुले हुए केशपाश से स्खलित पत्र लेखा और मुक्ता फलों से विच्छिन्न पत्रवेष्टन इन दोनों अभावों के होने

---

१ मागवमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मंजरीति।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशाना
वैरी न चेद भवति वेपथुरन्तराय॥

२ गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पै
पत्रच्छेदै कनककमलै कर्णविभ्रंशिभिश्च।
मुक्ताजालै स्तनपरिचितच्छिन्नसूत्रैश्च हारै
र्नैशो मार्ग सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥—मेघदूत ६८

३ अस्या ललाटे रचिता सखीभिर्विभाव्यते चन्दन-पत्र-लेखा।
आपाण्डुरक्षामकपोलभित्तावनङ्गबाणव्रणपट्टिकेव॥

४ तीरस्थलीबर्हिभिरुत्कलापै प्रस्निग्धकेकैरभिनन्द्यमानम्।
श्रोत्रेषु संमूर्च्छति रक्तमासां गीतानुगं वारिमृदङ्गवाद्यम्॥

हुए भी प्रमनाप्रा का यन प्रमिया का मन हर लता था' कहा प्रियतमा क कपाल देश पर पत्रावली बनाते का मात्र करके भी प्रेमी हाथ कांप जाते म प्रसफल-काम हो जाता था' यहीं स्वय मुरारि लगाते का प्रयत्नशील प्रमी अपनी प्रेमिका के यन पूरा का शायिय प्रभाव पाकर हो उन्ना था' और स्त्री प्रकार और जात कथा कथा प्रकार उन चित्रों म शान्ति के न्तन प्रिय चित्र है कि उन् निम सवता प्रसभव है।

इन कलाओं के साथ इस सवा कला-सूची म कुछ उपयोगी कलाएँ हैं जसे वास्तुविद्या या गृह निर्माण की कला म प्रमुख रत्न परी ा धातु विद्या कीमती पत्थरों का रगना वृक्षायुर्वेद या पेड पौधों का विज्ञान हथियारों की पहचान हाथी घोडा के लक्षण आदि । कुछ का सबध मनोविनोद मात्र से था जसे भेडा और मुर्गों की लडाई तोता मनो को पढाना इत्यादि । बाकी विशुद्ध साहित्यिक थी। इन साहित्यिक कलाओं म से अधिकाश को मनोविनोद की श्रेणी म रख सकते हैं।

इन कलाओं के प्रधान आश्रय अत पुर थे। पुरुषों की दुनिया म वास्त विकता के कठोर आघातों से रोमास का कोमल और मनोरम वातावरण प्राय क्षुब्ध हो जाता था। आज हूणों का तो कल यवनों (= आयोनियन-ग्रीक) का आक्रमण नगर की शान्ति को विक्षुब्ध कर जाया करता था परन्तु अन्त पुर म विश्राम की लहरिया कम ही पहुचा करती थी। शत्रु और मित्र दोनों

१ उद्घर्षेणाङ्गच्युतपत्रलेखो विश्लिष्टमुक्ताफलपत्रवेष्ट ।
मनोज्ञएवप्रमदामुखानामम्भोविहार कलितोऽपि वेष ॥

२ कपोले पत्राली पुलकितविधातु व्यवसित
स्वय श्रीराधाय करकलितवर्तिमधुरिपु
अमद ववत दो यन्निहितनयन कम्पितभुज ।
तदेतत सामथ्य तदभिनवरूपस्य जयति ।

३ स स्वय चरणरागमादध योषिता न च तथा समाहित ।
लोभ्यमान नयन श्लथाशुकमेखलागुणपदनितविभि ।

—रघुवश १९ २०

४ वराहमिहिर की वृहत सहिता से एसी बहुतरी कलाओं की जानकारी हो सकती है जसे वास्तुविद्या (५३ अध्याय) वृक्षायुर्वेद (५५) वज्रलेप (५७) कुक्कुट लक्षण (६३ अ०) शय्यासन (७८ अध्याय) गधयुक्ति (७७ अध्याय), रत्न परीक्षा (८० ८३ अ०), इत्यादि।

ही उन स्त्रियों अन्तःपुर की शान्ति का सम्मान करते थे।

साधारणतः संस्कृत-कवि का वर्णनीय अन्तःपुर धनी और राजकीय पुरुषों का ही होता था क्योंकि संस्कृत काव्य नाटक आख्यायिका आदि के नायक और नायिकाएँ प्रख्यातवंशीय धनाढ्य हुआ करती थी। इसीलिए संस्कृत काव्यों के अन्तःपुर का ठाट-बाट बहुत ही विपुल और चित्ताकर्षक है। इन अन्तःपुरों और इनमें रहने वाली अन्तःपुरिकाओं का वर्णन संस्कृत कवि बड़ी शान-शौकत के साथ करता है। प्रत्येक धनाढ्य नागरिक के घर के साथ उसका अन्तःपुर रहा करता था, जहाँ बड़े कड़े पहरे की व्यवस्था रहती थी। अन्तःपुर से लगी हुई एक वृक्ष-वाटिका (या गृह-उपवन) हुआ करती थी। इसके बीच में एक दीर्घिका या तालाब की व्यवस्था रहती थी। इस वाटिका में फलदार वृक्षों के सिवा पुष्पों और लता-कुंजों की भी व्यवस्था रहा करती थी। गृहस्वामिनी अपनी रसोईशाला के काम लायक तरकारियाँ भी इसी वाटिका के एक अंश में उत्पन्न कर लिया करती थी। वात्स्यायन के[1] कामसूत्र (पृ० २२८) में बताया गया है कि वह इस स्थान पर मूलक (मूली), आलुक (कन्द आदि) पलंकी (पालक), दमनक (दवना) आम्रातक (आमड़ा) एर्वारुक (फूटी) त्रपुष (खीरा), वार्ताक (बैगन), कुष्माण्ड (सफेद कुम्हड़े), अलाबु (कद्दू) सूरण (सूरन), शुकनासा (अगस्ता), स्वयंगुप्ता (केवाछ) तिलपर्णिका (शाक) अग्निमंथ (?) लहसुन, पलाण्डु (प्याज) आदि साग-भाजी बोती थी। इस सूची से जान पड़ता है कि भारतवर्ष आज से दो हजार वर्ष पहले जो साग-भाजियाँ खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नहीं हुई हैं। इन साग-भाजियों के साथ ये मसाले भी गृहदेवियाँ स्वयं तैयार कर लेती थीं—जीरा, सरसों, जवायन, सौंफ, तेजपात आदि। वाटिका के दूसरे भाग में कुब्जक (= मालती ?) आमलक (?), मल्लिका (बेला) जाती (मालती और भावप्रकाश के मत से चमेली) कुरण्टक (कटसरैया) नवमालिका तगर, जपा आदि के पुष्पों के गुल्म भी लगाया करती थी (पृष्ठ ३२५)। वृक्षवाटिका के अन्तिम (बाहरी) किनारे पर बड़े छायादार वृक्ष—जैसे अशोक, अरिष्ट, पुन्नाग, शिरीष आदि लगाये जाते थे। बृहत्संहिता (५५.३) में बताया गया है कि ये वृक्ष मांगल्य होते हैं इसलिये इनको घर या उद्यान के पूर्व भाग में रोपण करना चाहिए। उद्यान के ठीक बीच गृहदीर्घिका या तालाब रहा करता था। इन तालाबों में नाना

---

१ इस लेख में सर्वत्र चौखंबा सीरीज में छपे हुए कामसूत्र की पृष्ठ-संख्याएँ दी हुई हैं।

प्रासाद के अन्तर्गत या बाहर रहना मनोनुकूल समझा जाता था। इनमें कृत्रिम भाव से वर्षाऋतु की सी शीतलता (वन-कुसुम सहित कमल आदि) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (५६ ८ ७) में लिखा है कि जिस सरोवर में कमलिनी-दल से सूर्य की किरणें निरस्त होती हैं हंस के पंखों से धारा की जलराशियाँ कहारों से टकराती हैं इस कारण और-और चक्रवाकगण वहाँ निवास करते रहते हैं और जिसके तटों की वृक्ष वाली छाया में जलचरी पक्षी विश्राम करते हैं उस सरोवर के निकट देवतागण प्रसन्न भाव से विराजते हैं। इन वापियों में विविध पक्षियों के निवास का नाना भाँति से कवियों ने वर्णन किया है। इन्हीं वापिकाओं में वात्स्यायन ने लिखा है कि सघन छाया में प्रेंख (झूला) लगाया जाता था इन्हीं में पत्थर की स्थण्डिल पीठिकाएँ (बैठने के आसन) बनाये जाते थे (पृ० ४५)। भवन दीर्घिका के एक पार्श्व में क्रीड़ा-पर्वत हुआ करते थे जिनके मन्द गिरि मयूर मँडराते रहते थे। वहीं अन्तःपुरिकाएँ नाना भाँति की विलास लीलाएँ करती थीं। दीर्घिका में और अन्यत्र धारायन्त्र या फव्वारे बने होते थे जिनमें कभी जलस्पेतना और कभी हंस मिथुन अथवा चक्रवाक मिथुन के जोड़ बने होते थे जो जल धारा को उच्छ्वासित करते थे। अलकापुरी में मेघदूत की यक्षिणी के अन्तःपुर में एक ऐसी ही वापिका थी जिसमें यक्ष प्रिया ने एक छोटे से मंदार वृक्ष को—जिसके पुष्पस्तवक हाथ की पहुँच के भीतर ही थे—पुत्रवत पाल रखा था।[2] इस उद्यान में मरकत मणियों की सीढ़ी वाली एक वापी थी, जिसमें वैदूर्यमणि के बने हुए नाना पर हेम-पद्म प्रस्फुटित हो रहे थे और हंस विचरण कर रहे थे[3]। इसी वापी के तीर पर

---

१ सर सुनलिनीच्छन्न निरस्त रविरश्मिषु।
हंसांसाक्षिप्त कह्लार वीची विमल वारिषु॥
हंस कारण्डव क्रौंच चक्रवाक विराविषु।
पर्यन्त निचुलच्छाया विश्रान्त जलचारिषु॥

२ तत्रागार धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं।
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योद्याने कृतकतनयो वर्धित कान्तया मे
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्ष ॥ ८० ॥

३ वापी चास्मिन मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैम स्फीता विकचकमलैर्स्निग्धवैडूर्यनाल ।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानस सन्निकृष्टं
नाध्यास्यन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसा ॥८१॥

एक श्रीगा-भवन था। वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और कनक-वल्ली से वेष्टित था। वाटिका के मध्यभाग में रक्त-अशोक और बकुल के वृक्ष थे, एक प्रिया के पदाघात से और दूसरा वदन मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकांक्षा रखता था[१]। इनका बड़ा कुरवक या पियावसाकी भाड़िया का था। ठीक बीच में एक सोने की वास-यष्टि पर स्फटिक की पीढ़ी थी जिस पर यक्ष प्रिया का वह मयूर बैठा करता था जिसे वह अपनी चूड़ियों की मंजु ध्वनि से नचाया करती थी।[२] बहुत भीतर जाने पर यक्ष प्रिया के शयन-कक्ष के पास पिंजड़े में मधुरभाषिणी सारिका थी जिससे यत्र-तत्र वह अपने प्रिय के विषय में पूछा करती थी।[३] बाणभट्ट की कादम्बरी में अन्तःपुर के भीतर का बड़ा ही रसमय और जाज्वल वर्णन है। उस वर्णन से जान पड़ता है कि कादम्बरी की विविध परिचारिकाएँ किन कार्यों में व्यस्त थीं। वस्तुतः समस्त संस्कृत साहित्य में अन्तःपुर वर्णन के प्रसंग में इन बातों का अत्यधिक विस्तार रहता है। अन्तःपुर के सबसे भीतरी हिस्से में कोई लवलिका केतकी (केवड़) की धूलि से लवली (हरफारेवरी) के आलवालों को सजा रही थी। कोई सागरिका गंध-जल की वापियों में रत्न-बालुका निक्षेप कर रही थी कोई मृणालिका कृत्रिम कमलिनियों के यन्त्र चक्रवाकों के ऊपर कुंकुम रेणु फेंक रही थी कोई मकरिका कपूर पल्लव के रस से गंध-पात्रों को सुवासित कर रही थी कोई रजनिका तमाल वीथिका के अंधकार में मणि प्रदीपों को रख रही थी कोई कुमुदिका पक्षियों के निवारण के लिए दाडिमी फलों को मुक्ताजाल से अवरुद्ध कर रही थी कोई निपुणिका मणि की पुतलियों के वक्ष स्थल पर कुंकुम रस से चित्रकारी कर रही थी, कोई उत्पलिका कदली गृह की मरकत वेदिकाओं को सोने की समाजनी (भाड़) से साफ कर

१ रक्ताशोकश्चल किसलय केसरश्चात्र कान्त
प्रत्यासन्नौ कुरवक वृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एक सख्यास्तव सह मया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरा दोहदच्छद्मनास्या ॥८६॥

२ तन्मध्ये च स्फटिक फलका काञ्चनीवास यष्टि
मूले बद्धा मणिभिरनति प्रौढ वंश प्रकाशै ।
तालै शिञ्जद्वलय सुभग कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवस विगमे नीलकण्ठ सुहृद व

३ पृच्छन्ती वा मधुरवचना सारिका पञ्जरस्था
कच्चिद्भर्तु स्मरसि रसिके त्व हि तस्यप्रियेति

रही थी, कोई बकुलिका बकुल कुसुम माला गृहों को मदिरा रस से गण्डूष रही थी और कोई मालतिका कामदेव गृह की हाथीदाँत की चतुष्किका (मण्डप) को सिंदूर रेणु से पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ दरिद्र लेखनी धारियों की समझ में नहीं आ सकता। हम कलम घोंट पाड़े पर देखते हैं कि मधुमक्खियों के छत्ते से भी अधिक दम्भ दिखनेवाले इस अन्तःपुर के व्यापारों का अर्थ क्या है? फिर कुछ समझ में आने लायक बातें भी हैं। वहाँ कोई नलिनिका भवन के कलहंसों को कमल मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरों को धारा गृह या फव्वारों के पास ले जा रही थी—शायद नचाने के लिए!—कोई कमलिनिका चक्रवाक शावकों को मृणाल क्षीर रस दे रही थी, कोई कोकिला को आम्रमंजरी का अंकुर खिलाने में लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयों को चुन चुन कर भवन हारीतों को खिला रही थी, कोई लवंगिका चकोरों के पिंजड़ों में पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी, कोई मधुरिका पुष्पों के आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्तःपुर पक्षियों की सेवा में व्यस्त था। सबमें भीतर वचनमुखरा सारिका (मैना) थी और विदग्ध शुक था, जिनके प्रणय कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी और चन्द्रापीड के सामने अपना वैदग्ध्य विलास प्रकट करके जिस सारिका ने कादम्बरी के अधरों पर लज्जायुक्त मुसकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी![1]

प्राचीन भारत का यह अन्तःपुर वस्तुतः सब प्रकार की सुकुमार कलाओं का घर था। यद्यपि साधारण श्रेणी के नागरिकों के अन्तःपुर या वहिःप्रकोष्ठ उतने समृद्धियुक्त नहीं हुआ करते होंगे जितने साधारणतः उस युग के राजभवनों के वर्णन प्रसंग में मिल जाते हैं पर इसमें सन्देह नहीं कि कला और विद्या के आश्रय स्थान ऐसे ही रईस थे। मृच्छकटिक नाटक में एक छोटा-सा वाक्य आता है जो काफी अर्थपूर्ण है। इस नाटक के नायक चारुदत्त का एक पुराना नौकर संवाहक था जिसने संवाहक कला अर्थात् शरीर और वेश भूषा को सुरुचिपूर्ण ढङ्ग से सजाने का कौशल सीखा था। उसने दरिद्रतावश नौकरी कर ली थी। यही संवाहक चारुदत्त की दरिद्रता के कारण नौकरी छोड़कर अन्य व्यसन में लग गया था। एक बार चारुदत्त की प्रेमिका गणिका वसन्तसेना के यह कहने पर कि तुमने सुकुमार कला सीखी है उसने प्रतिवाद करके कहा— नहीं आर्ये

---

१ कादम्बरी पृ० ३३५ और आगे। इस लेख में सर्वत्र निर्णय सागर प्रेस (छठवें संस्करण १९२१) की कादम्बरी से उद्धरण दिए गए हैं।

नागरक के बठक घर म या फिर उस नाटयाचाय क गृह म जिसने कला को आजी विका बना लिया हो। चोर ने घर की दशा से यह अनुमान सहज ही कर लिया था कि धनी आदमी का घर तो यह होने से रहा।

वीणा और चित्रफलक ये दो वस्तुएं उन दिनो क सहृदय के लिये नित्यात आवश्यक वस्तु थी। चारुदत्त ने ठीक ही कहा था कि वीणा जो है वह असमुद्रो त्पन्न रत्न है उत्कठित की सगिनी है उक्ताय हुए का विनोद है विरही का ढाढ्स है और प्रेमी का रागवद्धक प्रमोद है[1]। प्राचीन काव्य साहित्य म इसकी इतनी चर्चा है कि सबका सग्रह करना बडा कठिन काय है। सरस्वती भवन से लकर कामदेवायतन तक अन्त पुर के विलासमय जीवन से लेकर आच्छोद सरोवर के शिवायतन वाली तपोभूमि तक नागरक के वहिर्निवास से लकर उद्यानयात्रा की वनभूमि तक—सवत्र वीणा उन दिनो के नागर रसिको की सगिनी थी। सस्कृत का कवि सौदय और चारुता की बात याद करते ही पहले वीणा की वात याद करता है। कामसूत्र से जान पडता है कि उन दिनो की गधवशालाओ म प्रत्यक नागरक क लडको को जिन कलाओ का सीखना जरूरी था उनमे सवप्रधान है—गीत वाद्य और नत्य। इस वाद्य म वीणा और डमरु तथा वशी का उल्लेख है। डमरु भारतवष का अत्यन्त प्राचीन वाद्य है और कहते है काल क्रम से उसी ने मदग का आकार ग्रहण किया है। इस मदग के विषय म सर सी० वी० रमन जसे चोटी के वज्ञानिक का कहना है कि यह ससार का सबस श्रेष्ठ वज्ञानिक ढग से बना हुआ वाद्य है। ललित विस्तर म वीणा और वाद्य-नत्य को उन ८६ कलाओ मे गिना गया है जिनका ज्ञान सिद्धाथ को था। वीणा के साथ ही एक और वाद्य वणु या वशी का भी कामसूत्रादि ग्रन्थो म वारबार उल्लेख है। यह बाजा भी नागरको को बहुत प्रिय था। यहाँ हम नत्य गीत नाटय आदि का विस्तत उल्लेख नही करेंगे।

दूसरा अत्यन्त महत्वपूण मनोविनोद चित्रकम था। कला की गणना म इसका प्रमुख स्थान है। विष्णु धर्मोत्तर पुराण क चित्र सूत्र म कहा गया है कि समस्त कलाओ म चित्र-कला श्रेष्ठ है। वह धम अथ काम और मोक्ष को

---

१ वीणाहि असमुद्रोत्पन्न रत्नम—
उत्कठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या सकेतके चिरयति प्रवरो विनोद
सस्थापना प्रियतमा विरहातुराणा रक्तस्य रागपरिवद्धिकर प्रमोद ॥
—मच्छकटिक ३ ४

न प्रकार की श्रौर भी विधियाँ दी हुई हैं जो गत समय टार ौर समझ म त ी थी। नके ऊपर चित्र बनाय जात थ।

चित्रा म कई प्रकार क रग काम म लाय जात थ। मन बौन की तनिका से भाग ताम का सूच्यग्र मा लगा। था जाती अर भाग ौर इतना हा ग्रान रना था। इस ि हुत कमा थ। तूलिका म नरह क पाा च पाम म राग लगाय जात थे ौर चित्र की रग्नाओं के नियमान ौर मात म वाजन रख पर बाला रग बनाये थे। वननाओं के भाग लग हुए नाम्नातु स मनीन रगा गीरा का काम लिया जाता था। रखें बाना तमना तीन प्रकार की हाती थी—स्थूल मध्य ौर सूक्ष्म। पमा म नयन का काम ना था दूसरी म अग्र भाग ौर पाव भाग की रग्वायें सीधी जाती थी ौर तीसरी म सूक्ष्म रखायें बनाई जाती थी। चित्र पवन रग्वाओं के भी हान थ ौर रग्वाओं म रग भर कर भी बनाय जात थ। जिसको साम्य परम्परा कहते हैं उसका भी ध्यान रखा जाता था। एकरग चित्रा म स्तरा विशेष उपयोग होता था। अभिलषितार्थचिन्तामणि (३ १६२) म कहा गया है कि जो स्थान निम्नतर रो वर्गो एकरग चित्र म श्यामतर वण हाना चाहिए ौर जो स्थान उन्नत हो वह उज्ज्वल या पीत रग का। रगीन चित्रो म नाना प्रकार क रगा का वियोग करत थ। श्वेत रग गाय की चण करके बनाया जाता था गण दरद म रक्त (लाल) अलक्तक स लोहित गरू से पीत हरिताल स ौर काला काजल से बनता था। इनक आपस म मिलने से तथा अन्य रगा के मिश्रण से भिन्न रग बनते थे। ये मिश्र रग कमल सौराश्व(?) धोगत्व(?) धूमच्छाय कपोताभ अतसी पुष्पाभ नीलकमल समान, हरित गौर श्याम पाटल कब र आदि बहुतेरे रग के बनते थे।

पट या कपडे पर भी चित्र बनाये जाते थे। पचदशी नामक वेदान्त ग्रथ से जाना जाता है कि ऐसे चित्र चार अवस्थाओं से गुजरते थे—धौत घट्टित लाछित ौर रजित। कपडे का धोया हुआ रूप धौत है उस पर चावल आदि क माड से घटाई मण्डित है फिर काजल आदि की सहायता से रेखाकन लाछित है ौर उसम रग भरना रजित अवस्था है (प० ६ १ ३)।

विष्णु धर्मोत्तर पुराण म एक अत्यन्त महत्वपूण बात यह है कि नत्य ौर चित्र का बडा गहरा सम्बन्ध है। मार्कण्डेय मुनि ने कहा था कि नत्य ौर चित्र इन दोनो ही कलाओं म त्रैलोक्य की अनुकृति होती है। महानत्य म दष्टि हाथ भाव आदि की जो भगी बताई गई है वही चित्र म भी प्रयोज्य है

वस्तुत नत्य ही परम चित्र है।[1]

सोमेश्वर के अभिलषितार्थचिन्तामणि म चार प्रकार के चित्रो का उल्लेख है—विद्ध चित्र जो इतना अधिक वास्तविक वस्तु से मिलता हो कि दपण मे पड़ी परछाइ जसा लगता हो अविद्ध चित्र जो काल्पनिक होते थे और चित्र-कार क भावोल्लास की उमग मे बनाये जाते थे रस चित्र, जो भिन्न भिन्न रसो की अभिव्यक्ति के लिये बनाये जाते थे, और धूलि चित्र। इस ग्रथ मे चित्र म लाने के उपयोग की भी विधि दी हुई है।

शास्त्रीय ग्रथो के देखने से जान पडता है कि उन दिनो चित्र के विषय अनेक थे। केवल शृङ्गार चेष्टा या धर्माख्यान ही तक उनकी सीमा नही थी। धार्मिक और ऐतिहासिक आख्यानो के लम्बे लम्बे पट उन दिनो बहुत प्रचलित थे। कामसूत्र म ऐसे आख्यानक पटो (पृ० २६७) का उल्लेख है और मुद्राराक्षस नाटक मे यम पटो की कहानी है। देवता असुर राक्षस नाग यक्ष, किन्नर, वक्ष लता, पशु पक्षी सब कुछ चित्र के विषय थे। इनकी लम्बाइ चौडाइ आदि कसी होनी चाहिए, इन विषयो का शास्त्र ग्रथो म विशेष रूप से उल्लेख है।

सम्भ्रान्त परिवार के अन्त पुर की देवियो म चित्र विद्या का कसा प्रचार था, इसका अन्दाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि कामसूत्र म लडकियो के लिये जो उपहार अत्यन्त आकर्षक हो सकते हैं उनकी सूची म एक पटोलिका का मुख्य स्थान है। इस पटोलिका म अलक्तक (महावर), मन शिला (मनसिल) हरिताल हिंगुल और श्याम वणक (राजावतक का चूण ?) रखा करते थे। हमने पहले ही देखा है कि इन पदार्थो से शुद्ध और मिश्र रग बनाने का काम लिया जाता था। सस्कृत नाटको मे शायद ही कोई ऐसा हो, जिसम प्रेमी या प्रेमिका अपनी गाढ विरह वेदना को प्रिय के चित्र बनाकर न भुलाती करती हो। मृच्छकटिक की गणिका वसन्तसेना चारुदत्त का चित्र बनाती है शकुन्तला नाटक का नायक दुष्यन्त विरही होकर प्रियतमा का चित्र बनाकर मन बहलाता है रत्नावली म तो चित्रफलक ही नाटक के द्वन्द्व का मूल और

---

१ यथा नृत्ये तथा चित्रे त्रलोक्यस्यानुकृति स्मृता।
दृष्टयश्च तथा भावा अगोपागानि सवश ॥
कराश्च ये महानत्ये पूर्वोक्ता नृपसत्तम।
त एव नृत्ये विज्ञेया नृत्य चित्र पर स्मृतम ॥

चित्रविद् कहना चाहता है[1]।

ऐसा जान पड़ता है कि स्त्रियों को चित्रण में उन दिनों पूरी स्वतन्त्रता मिली थी। राजा और रानियों की पुरुष प्रमाण प्रतिकृति उन दिनों नियमित रूप से राज घरानों में सुरक्षित रहती थी। इस भक्ति से जान पड़ता है कि श्राद्ध के बाद पहला काम होता था मृत व्यक्ति का आलेख्य बनाना। यद्यपि अन्तःपुर और समृद्ध नागरकों के वहिर्निवास में ही कला का अधिक उत्कर्ष मिलता है तथापि साधारण जनता में भी इस कला का प्रचार रहा होगा। संस्कृत नाटकों और नाटिकाओं में परिचारिकाओं को प्राय चित्र बनाते अंकित किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों से इस बात का सबूत भी मिल जाता है कि उन दिनों स्वयं लोग अपना चित्र भी बनाते थे। भारतवर्ष ने उस काल में इस विद्या में जो चरम उत्कर्ष प्राप्त किया था उसका ज्वलन्त प्रमाण अजन्ता और बेसूर आदि की गुफाएँ हैं।

---

१ तरंगाग्निशिखाधूमवजयन्त्यम्बरादिकम्।
वायुगत्या लिखेद्यस्तु विज्ञेय सतु चित्रवित्
सुप्त च चेतनायुक्तं मृत चैतन्यवर्जितम्
निम्नोन्नतविभाग च य करोति स चित्रवित्॥

लोकभाषा मे सास्कृतिक इतिहास की भूली कड़ियाँ

हिन्दी आयभाषा है। वह जिन प्रदेशा म आज साहित्यभाषा के रूप में स्वीकृत गहीत है उनम कभी अपन पुरान अपभ्रश या प्राकृत रूपो म बोली जाती थी। परन्तु उसके भी पहल- बहुत पहले—इन स्थाना म आर्येतर जातियाँ बसती थी। उनकी भाषा आयभाषा नही थी। आर्यों के साथ इन जातिया का, किसी भूल हुए युग म बडा कठोर सघष हुआ था। असुरा, दस्यो यक्षा नागो, राक्षसा आदि के साथ आय-जाति के सघष की कहानियाँ हमारे पुराणा मे भरी पडी हैं। लड झगडकर य जातियाँ धीरे धीरे एक दूसरे के निकट भी आती गयी। उन्हाने धीरे धीरे आयभाषा और आय विश्वास को स्वीकार कर लिया परन्तु उनके विश्वास और उनकी भाषा ने नीचे से आक्रमण किया और आयभाषा ऊपर-ऊपर स आय बनी रहने पर उनकी भाषाओ से प्रभावित होती रही। उनके विश्वासो न हमारी धम-साधना और सामाजिक रीति नीति का ही नही, हमारी नतिक-परम्परा को भी प्रभावित किया। जैस जसे वे आयभाषा सीखती गयी वस वस उन्होने आर्यों की परम्परागत धम साधना और तत्त्व चिन्ता को भी प्रभावित किया। धीरे धीरे समूचा उत्तरी भारत आयभाषी ता हो गया पर आयभाषी बनी हुई जातिया के सम्पूण सस्कार भी उनमे ज्यो-के-त्यो रह गये। यह ठीक है कि कुछ जातिया न जल्दी आय भाषा सीखी कुछ ने थोडी देर स और कुछ ता जगना और पहाडा की एसी दुगम जगहा म जा बसी कि आज भी वे अपनी भाषा और सस्कृति को पुरान रूप म सुरक्षित रखती आ रही हैं। परिवतन उनम भी हुआ है पर परिवतन तो जगत का धम है। मोटे तौर पर हम कह सकत हैं कि विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित सवत् क प्रथम सहस्र वर्षों तक यह उथल पुथल चलती रही और आज स लगभग एक सहस्राब्द स कुछ पूव ही उत्तर भारत

प्राय पूर्ण रूप म आर्यभाषाभाषी हो गया। संस्कृत क पुराण ग्रंथा स हम इन आर्येतर जातियो की सभ्यता और संस्कृति का एक आभास पा सकत हैं। आभास इसलिए कि वस्तुत य पुराण आर्यदृष्टि से—तत्रापि ब्राह्मण दृष्टि स—लिख गय है और फिर बहुत पुरानी बातें होन क कारण इन बाता म कल्पना का अश भी मिल गया है। बौद्ध और जन अनुश्रुतियो क साथ इन पौराणिक कथाओ को मिलाने से कुछ कुछ बातें समझ म आ जाती हैं पर यह तो हम भूल ही नही सकत कि य अनुश्रुतिया भी विशेष दृष्टि स देखी हुई ह।

परन्तु आज स कोई दस बारह सौ वष पहल जब उत्तर भारत की सभी मानव मडलियाँ आर्यभाषा भाषी हो गयी तो उन्होन अपनी बात आर्यभाषाओ क माध्यम स कहना शुरू किया। उनकी बात तत्कालीन लोकभाषा म थी परन्तु दुर्भाग्यवश उनका बहुत कम अश हमारे पास तक आ सका है। देशी भाषाओ क साहित्य म लोक कथाओ म कहावता म किंवदंतियो म और अनेक प्रकार क पारिभाषिक श ा म उस महान उथल पुथल और सास्कृतिक मिलन की कहानी प्रच्छन्न रूप से बहती चली आयी है। इस दृष्टि स हमारी देशी भाषाओ का साहित्य—लिखित और अलिखित—बहुत सी ऐसी बाता को बता सकता है जो उनकी वर्तमान परिधि और जन्मकाल से बाहर की है और इस प्रकार उनक अध्ययन स हम सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति को समझन की कुंजी पा सकत है। दुर्भाग्यवश अब तक उनको इस मामल म उतना महत्त्व नहीं दिया गया जितना उन्हें मिलना चाहिए था। हम यह दिखाने का प्रयत्न करग कि यद्यपि हमारे पास अध्ययन की बहुत कम सामग्री है तथापि देशी भाषा के साहित्य म ऐसे अनक महत्त्वपूर्ण इशारे हम मिल जात हैं जिससे हम अपनी पुरानी संस्कृति क इतिहास का समझने का सूत्र पा जाते हैं। हमारी भाषा का पुराना साहित्य प्रान्तीय सीमाओ स बँधा नहीं है। आपको अगर हिन्दी-साहित्य का अध्ययन करना है तो उसक पडोसी साहित्यो—बँगला मराठी उडिया गुजराती आदि क पुराने साहित्य—को जान बिना घाट म रहेंगे। यही बात बगला मराठी उडिया आदि साहित्यो क बारे म भी ठीक है। हमारे देश का सास्कृतिक इतिहास इस मजबूती के साथ अदृश्य काल विधाता क हाथो सी दिया गया है कि उस प्रान्तिक सीमाओ म बाधकर सोचा भी नहीं जा सकता। उसका एक टाँका यदि काशी म दीख गया तो दूसरा बगाल म और तीसरा उडीसा म दीख जायगा और चौथा यदि मलाबार म या सिहल म दीख जाय तो कुछ भी आश्चर्य करने की बात न ी रहेगी।

हिन्दी साहित्य का इतिहास स बडत सयोग और सौभाग्य स प्राप्त हो गयी

पुस्तकों के आधार पर नहीं लिखा जा सकता। प्राचीन हिन्दी का साहित्य रस-साहित्य नहीं है। जो रस साहित्य कहा जा सकता है वह बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसका सबसे बड़ा गुण यह है कि उससे हम बहुत दिनों के उपेक्षित और अपरिचित मनुष्य को पहचान सकते हैं और मेरी दृष्टि में यह बहुत बड़ी बात है। जो साहित्य मनुष्य को उसकी समस्त आशा आकांक्षाओं के साथ उसकी सभी सबलताओं और दुर्बलताओं के साथ, हमारे सामने प्रत्यक्ष ले आकर खड़ा कर देता है वही महान् साहित्य है। मनुष्य ही मुख्य है बाकी सभी बातें गौण हैं। अलंकार छंद रस का अध्ययन इस मनुष्य को समझने के लिए ही किया जाता है वे अपने आप में चरम मान नहीं हैं। मनुष्य को—अर्थात पशु सुलभ वासनाओं से उपरले स्तर के उस प्राणी को—जो त्याग प्रेम संयम और श्रद्धा को छीनाझपटी मारामारी लोलुपता और घृणा-द्वेष से बड़ा मानता है—अपने लक्ष्य की ओर ले जाना ही साहित्य का मुख्य उद्देश्य है। अपने पुराने साहित्य में हम इस मनुष्य के आगे बढ़ने के लिए किये गये संघर्षों को, अनुभूतियों को और विजय पराजय को समझने के अनेक इशारे पाते हैं। कबीरदास का बीजक गोरखपन्थी अनुश्रुतियाँ निरंजनियों के छिटके फुटके मिले हुए पद हमें एक भूली हुई दुनिया के सामने लाकर खड़ा कर देते हैं हम आश्चर्य से एक सम्पूर्ण अभिनव जगत का दर्शन करते हैं जो अपूर्व है। पर ये इशारे ही भर हैं। हम पुराने नये और पार्श्ववर्ती साहित्यों में इस इशारे का महत्त्व समझ सकते हैं। इस अपूर्व जगत की जानकारी के बिना हमारा सांस्कृतिक इतिहास अधूरा रह जाता है। हमारे इन्हीं भाषाओं के साहित्य की उपेक्षा करके हमने अब तक अपना सम्पूर्ण इतिहास ही अधकचरा बना रखा है।

दसवीं शताब्दी के आसपास एक विशिष्ट मनोवृत्ति का प्राधान्य भारतीय धर्म साधना के क्षेत्र में स्थापित होता है यद्यपि वह नयी नहीं है। कम-से-कम विक्रम की छठी शताब्दी से निश्चित रूप से इस प्रवृत्ति के रहने का प्रमाण मिलता है। विरोधी मतों को अवज्ञा कहकर हेय सिद्ध करना इस प्रवृत्ति का प्रधान स्वरूप है। छठी से लेकर दसवीं शताब्दी तक का भारतीय साहित्य बहुत विशाल है तो भी धर्म साधना के इतिहास की दृष्टि से वह पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। अधिकांश में हमें साम्प्रदायिक ग्रन्थों पर निर्भर करना पड़ता है। यह उल्लेखयोग्य है कि सभी धार्मिक सम्प्रदाय अपने ग्रन्थ नहीं छोड़ गये हैं। कुछ ने तो शायद ग्रन्थ लिखा ही नहीं और कुछ ने अगर लिखा भी तो वह प्राप्त नहीं हो सका। पुरानी पुस्तकों में इन सम्प्रदायों का कुछ कुछ उल्लेख मिल जाता है। पर इन उल्लेखों से उनका कोई विशेष परिचय नहीं

मिलता। बौद्ध सम्प्रदायों के विषय मे ब्राह्मण ग्रन्था स जो कुछ पता चलता है वह केवल अपूर्ण ही नही भ्रामक भी है। सौभाग्यवश अब बौद्धो के एक बडे सम्प्रदाय स्थविरवाद का पूरा साहित्य—जो लगभग तीन महाभारत के बराबर है—प्राप्त हो गया है। अन्यान्य सम्प्रदायो के ग्रन्थ भी थोडे बहुत मिल गये है और चीनी तथा तिब्बती भाषा म अनेक ग्रन्थ अनूदित अवस्था मे सुरक्षित है। विद्वान लोग नये सिरे से इन ग्रन्थो को धीरे धीरे प्रकाश म लाने का प्रयत्न करते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थो मे उच्छेद, विनाश या अभाववाद को ही मुख्य बौद्ध सिद्धान्त मानकर उसका खडन किया गया है। यदि बौद्ध साहित्य का अन्य देशो से उद्धार न हो सकता तो हमे बौद्ध दर्शन की महिमा का कुछ भी पता न चल पाता। सर्वदर्शन सग्रह म वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्धो के नामकरण का रहस्य यह बताया गया है कि ये लोग विभाषा यानी गडबड भाषा के बोलने वाले या बे सिर-पैर की हाकने वाले बकवादी हैं। लेकिन असली रहस्य यह नहीं है। भला कोई सम्प्रदाय अपने को बकवादी क्यो कहेगा? असल मे विभाषा शब्द का अर्थ है विशिष्ट भाष्य। यह विशिष्ट भाष्य चीनी भाषा म आज भी सुरक्षित है। सस्कृत म इस मत का प्रतिपादक ग्रन्थ अभिधर्मकोश उपलब्ध हुआ है। इस ग्रन्थ का पहले पहल चीनी भाषा की टीका के आधार पर फ्रांसीसी म उल्था किया गया था। इस सामग्री के आधार पर महापडित राहुल साकृत्यायन ने इसके मूल के उद्धार का प्रयत्न किया है और एक सस्कृत टीका भी अपनी ओर स जोडकर इसे बोधगम्य बना दिया है। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अनाप शनाप बोलने वालो की कृति तो है ही नही बहुत स आस्तिक माने जाने वाले आचार्यों की पुस्तको से अधिक युक्तिसगत और मननीय है।

महामति शकराचार्य ने शून्यवाद को सर्वप्रमाण विप्रतिषिद्ध कहकर उपेक्षा योग्य ही माना था। कुमारिल भट्ट जैसे मेधावी आचार्य न भी बुद्ध की अहिंसा आदि भली बातो को उसी प्रकार अग्राह्य बताया था जिस प्रकार कुत्ते की खाल म रखा हुआ दूध अमध्य (श्वदृतिनिक्षिप्त क्षीरवदनुपयोगि) होकर अनुपयोगी हो जाता है। इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। वस्तुत बडे स बडे आचार्य के खडन को देखकर भी विरोधी सम्प्रदाय के विषय म कोई निश्चित धारणा नहीं बनायी जा सकती। बौद्धधर्म तो फिर भी सौभाग्यवश जीवित मत है और उसके साहित्य के उपलब्ध हो जाने स उसके विषय म ठीक ठीक धारणा बना ली जा सकती है। परन्तु ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय हैं जिनका न तो किसी जीवित परम्परा का पता चलता है और न जिनका कोई साहित्य ही पाया जा सका है। विरोधी मत वालो न उनका थोडा-बहुत विकृत परिचय दिया है

परन्तु ऊपर के उदाहरणा को देखकर जान पडता है कि इन विकृत परिचयो क आधार पर हम विशेष अग्रसर नही हो सकते।

चरपटी नाथ के नाम म चलनेवाले और निरजनिया के सग्रहो म अलभ्य कुछ पद मिलते हैं जिनम नाना सम्प्रदायो का उल्लेख है। उनम 'नीलपटा' सम्प्रदाय की भी चर्चा है। इसे अटपटा मत बताया गया है। इन पदो की भाषा आधुनिक है पर वक्तव्य भी नया हो ऐसा नही है।

एक श्वेत जटा एक पीतपटा। एक तिलक जनेऊ लब जटा।
इक नीलपटा मत अट्टपटा। भ्रमजाल जटा मव हट्ट अटा।

क्या इस अलग और उपेक्षित माना जाय? पुरातन प्रबन्ध-सग्रह नामक जन-प्रबन्ध म भी इन दर्शनियाकी चर्चा है। इनकी साधना पद्धति के विषय म जितना कुछ कहा गया है उसस लगता है कि ये लोग अत्यन्त निचली श्रेणी के भोगपरक धर्म का प्रचार करते थे। 'खाओ पिओ और मौज करो' यही उनका आदर्श था। पुरुष और स्त्री के जोडे नग्न होकर एक ही नील वस्त्र म लिपटे रहते थे। ऐस ही एक जोडे स राजा भोज की कन्या न धर्मविषयक प्रश्न किया था जिस पर 'दर्शनी' न उस वामलोचना को उपदेश दिया कि खाओ, पिओ और मौज करो! जो बीत गया सो कभी नहीं लौट सकता। अगर तुमने तप किया और कष्ट उठाया तो वह तुम्हारे लिए बिल्कुल बेकार है क्योकि वह जो गया सो गया। असल बात यह है कि यह शरीर सिर्फ जड तत्त्वों का सघात मात्र है इसके आगे कुछ भी नही है।

पिव खाद च वामलोचने यदतीत वरगात्रि तन्न ते।
नहि भीरु गत निवर्तते समुदयमात्रमिद कलेवरम॥[1]

राजा भोज को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने इस सम्प्रदाय का उच्छेद कर दिया। खोज खोजकर नीलपटो के सभी जोडे हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर दिये गये। भारतीय साहित्य म इन नीलपटा की कोई चर्चा नहीं आती। इस विवरण से तो इनके प्रति घृणा ही उत्पन्न होती है। सौभाग्यवश इस सम्प्रदाय के एक और भी विवरण का सिंहल के निकाय-सग्रह स राहुल साकृत्यायन ने उद्धार किया है। यह कहानी राजा भोज के कुछ ही पहले की है। कहा गया है कि राजा मत-बल सेन के समय, जिनका राज्यकाल सन ८४६-८६६ ई० है, वज्रपवन निकाय का एक भिक्षु सिंहल म आया और वीराङ्कुर विहार म रहने लगा। उसके प्रभाव म आकर राजा ने वाजिरिय

---

[1] पुरातन प्रबन्ध पृ० १६

(वज्रयान) मत को स्वीकार किया। इसी से लंका में रत्नकूट आदि ग्रंथों का प्रचार आरम्भ हुआ। इसके बाद के राजा ने यद्यपि वाजिरियों के बारे में कुछ कड़ाई दिखायी पर इन सिद्धान्तों के गोप्य रहने के कारण वे बचे ही रहे। राहुल जी का कहना है कि तिब्बत के रंगीन चित्रों में आतिशा (दीपंकर श्रीज्ञान) आदि भारतीय भिक्षुओं के चीवर के नीचे जो नील रंग की एक जाकट जैसी चीज दिखती है उसका कारण निकाय संग्रह में इस प्रकार दिया हुआ है—जिस समय कुमारदास सिंहल में राज कर रहे थे उन्हीं दिनों दक्षिण मथुरा में श्रीहर्ष नामक राजा का राज्य था। उस समय सम्मितीय निकाय का एक दुःशील भिक्षु नीला वस्त्र धारण करके रात को वेश्या के घर गया। उसके प्रातःकाल लौटने में देर हो गयी। जब विहार के शिष्यों ने उसके वस्त्र का कारण पूछा तो उसने उस नील वस्त्र की बड़ी महिमा बतायी। तभी से उसके शिष्य नील वस्त्र का व्यवहार करने लगे। नीलपट दर्शन में कहा गया है कि वेश्या, सुरा और काम ये तीन ही वास्तविक रत्न हैं, बाकी सब काँच के टुकड़े हैं। स्पष्ट ही नीलपट दर्शनियों का जो मत पुरातन प्रबन्ध में उद्धृत किया गया है वह इसी से मिलता जुलता है। परन्तु यदि राहुलजी के वक्तव्य को ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि इन लोगों का सम्बन्ध वज्रयानियों से था। यह ध्यान देने की बात है कि सम्मितीय निकाय के जिन भिक्षुओं की ऊपर चर्चा आयी है उनका महायान मत की स्थापना में बड़ा हाथ रहा है।[1] यह नीलपट सम्प्रदाय यदि वज्रयान से सम्बद्ध था तो निश्चय ही बड़ा शक्तिशाली था और उसका साहित्य बिलकुल खोया हुआ नहीं कहा जा सकता। स्पष्ट ही यदि जैन प्रबन्ध का विवरण ही हमारे सामने होता तो इस मत के विषय में बहुत भ्रान्त धारणा बनी रहती। ऐसे अनेक सम्प्रदाय हैं जो गलत ढंग से उपस्थापित हैं। कितनों ही का तो नाम भी नहीं बचा होगा।

कितने ही सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनका साहित्य तो उपलब्ध नहीं है पर परम्परा अभी बची हुई है। नाथ मार्ग के बारह पन्थों में से प्रायः सभी जीवित हैं पर जहाँ तक लेखक को ज्ञात है एक दो को छोड़कर बाकी पन्थों का कोई साहित्य नहीं बचा है। इन सम्प्रदायों के साधुओं और गृहस्थों में अपने प्रतिष्ठाताओं के सम्बन्ध में कुछ कथाएँ बची हुई हैं। किसी किसी के स्थापित मठ और मन्दिर वर्तमान हैं उनमें कुछ विशेष ढंग के अनुष्ठान होते हैं। इन लोक कथाओं और अनुष्ठानों के भीतर से इन सम्प्रदायों की विशेषता का कुछ पता

---

१ गंगा पुरातत्त्वांक

चल जाता है। इतना ही नहीं कभी कभी तो इन अनुष्ठानों और लोक-कथाओं पर से उन पूर्ववर्ती मतों का भी पता चल जाता है जो या तो इन परवर्ती मतों के विरोधी थे या इन्हीं में घुल मिल गए हैं। आगे हम इस प्रकार के कई धर्म-मतों का उल्लेख करेंगे। इसलिए भारतीय धर्म साधना का अध्ययन बहुत जटिल और उलझा हुआ कार्य है। इसे सुचारु रूप से करने के लिए केवल लिखित-साहित्य से काम नहीं चल सकता। लोक-कथा, मूर्ति और मन्दिर, साधुओं के विशेष विशेष सम्प्रदाय, उनकी रीति-नीति, आचार विचार, पूजा-अनुष्ठान आदि की जानकारी परम आवश्यक है। परन्तु इस दृष्टि से बहुत कम काम हुआ है। जो कुछ हुआ है वह भी विदेशी विद्वानों के परिश्रम का ही फल है। इसके लिए हम उनके कृतज्ञ होना चाहिए। यह ठीक है कि उनका दृष्टिकोण दूसरा है, परन्तु जो कुछ भी उन्होंने किया है वह हमारे काम तो आता ही है।

गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) के द्वारा प्रवर्तित योगि सम्प्रदाय नाना पन्थों में विभक्त हो गया है। पन्थों के अलग होने का कोई-न-कोई भेदक कारण हुआ करता है। हमारे पास जो साहित्य है उससे यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से या साधना विषयक या तत्त्ववाद विषयक किन मतभेदों के कारण ये सम्प्रदाय उत्पन्न हुए। गोरक्ष-सम्प्रदाय की जो व्यवस्था इस समय उपलब्ध है उसमें ऐसा मालूम होता है कि भिन्न भिन्न सम्प्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गए। भर्तृहरि उनके शिष्य बताए जाते हैं, कानिपा उनके समकालीन ही थे, पूरन भगत या चौरंगी नाथ भी उनके गुरुभाई और समकालीन बताए जाते हैं। गोपीचन्द उनके समसामयिक सिद्ध कानिपा के शिष्य थे। इन सबके नाम से सम्प्रदाय चले हैं। जालन्धरनाथ उनके गुरु के सतीर्थ थे, उनका प्रवर्तित सम्प्रदाय भी गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। इस प्रकार गोरखनाथ के समसामयिक, पूर्ववर्ती और किंचित परवर्ती जितने सिद्ध हुए हैं सभी के नाम के सम्प्रदाय गोरखपन्थ में शामिल हैं।

वर्तमान नाथपन्थ में जितने सम्प्रदाय हैं वे मुख्य रूप से उन बारह पन्थों से सम्बद्ध हैं जिनमें आधे शिव के द्वारा प्रवर्तित हैं और आधे गोरक्षनाथ के द्वारा। इनके अतिरिक्त और भी बारह या अठारह सम्प्रदाय थे जिन्हें गोरखनाथ ने नष्ट कर दिया। इन नष्ट किये जानेवालों में कुछ शिवजी के सम्प्रदाय थे और कुछ स्वयं गोरखनाथजी के। अर्थात् गोरक्षनाथजी की जीवितावस्था में ही ऐसे बहुत-से सम्प्रदाय थे जो अपने को उनका अनुवर्ती मानते थे और इन...

अनधिकारी सम्प्रदायों का दावा इतना उलझ गया कि स्वयं गोरक्षनाथ ने ही उनमें से बारह या अठारह को तोड़ दिया। क्या यह सम्भव है कि कोई महान गुरु अपने जीवितकाल में ही अपने मार्ग को विभिन्न उपशाखाओं में विभक्त देखे और भेदों को दूर न करके पन्थों की विभिन्नता को स्वीकार कर ले? इसका रहस्य क्या है?

गोरक्षनाथ का जिस काल में आविर्भाव हुआ था वह समय भारतीय साधना में बड़े उथल-पुथल का है। एक ओर मुसलमान लोग भारत में प्रवेश कर रहे थे और दूसरी ओर बौद्ध-साधना क्रमशः मन्त्र-तन्त्र, टोने टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। दसवीं शती में यद्यपि ब्राह्मणधर्म सम्पूर्ण रूप से अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था तथापि बौद्धों, शैवों और शाक्तों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद के प्राधान्य को नहीं मानता था यद्यपि उनके परवर्ती अनुयायियों ने बहुत कोशिश की कि उनके मार्ग को श्रुति सम्मत मान लिया जाय परन्तु यह सत्य है कि ऐसे अनेक शैव और शाक्त सम्प्रदाय उन दिनों वर्तमान थे जो वेदाचार को अत्यन्त निम्न कोटि का आचार मानते थे और ब्राह्मण प्राधान्य को बिलकुल नहीं स्वीकार करते थे।

हमारे आलोच्य काल के कुछ पूर्व शैवों का पाशुपत मत काफी प्रबल था। हुएनसांग ने अपने यात्रा विवरण में इसका उल्लेख बारह बार किया है। वैशेषिक दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपाद को भी पाशुपत बताया जाता है। बाणभट्ट ने अपने ग्रन्थों में इस मत की चर्चा की है और शंकराचार्य ने अपने शारीरक भाष्य (२ २ ३७) में इसका खंडन किया है। लिंग पुराण में पाशुपत को तीन प्रकार का बताया गया है—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्र। वैदिक लोग रुद्राक्ष और भस्म धारण करते थे, तान्त्रिक लोग तप्त लिंग का और शूल आदि का चिह्न धारण करते थे और मिश्र-पाशुपत समान भाव से पंचदेवों की उपासना किया करते थे। वामनपुराण में शैव पाशुपत कालामुख और कापाली की चर्चा है। अनुश्रुति के अनुसार २८ शैव आगम और १७० उपागम थे। इन आगमों को निगम (अर्थात् वेद) के समान और उनसे भिन्न स्वतन्त्र प्रमाणस्वरूप स्वीकार किया गया है। काश्मीर का शैव दर्शन इन आगमों से प्रभावित है। वस्तुतः तन्त्रशास्त्र में निगम का अर्थ वेद माना भी नहीं जाता। आगम शाक्त तन्त्रों में उस शास्त्र को कहते हैं जिसे शिव ने देवी को सुनाया था। इस प्रकार ये सम्प्रदाय स्वयं भी वेदों को बहुत महत्त्व नहीं देते थे और वैदिक मार्ग के बड़े-बड़े आचार्य भी उन्हें अवैदिक ही समझते थे।

जिस प्रकार एक बार वेदों को अन्तिम और अविसंवादी प्रमाण मानने का

आग्रह था, उसी प्रकार उसका विरोध भी हुआ। पहले तो हमे इस विरोध का पता नही लगता पर धीरे धीरे तत्वा म उसका स्वर केवल दृढ ही नहीं कठोर भी हो जाता है। क्या इसमे आयपूव जातियो की देन है ? क्या यह उन जातिया के मनीषियो की प्रतिक्रिया थी जो अब तक अपनी बात आयभाषा के माध्यम स नहीं कह सके थे ? तान्त्रिक और योगी ता उल्टी बात कहने के अभ्यस्त हो गये थे। विरोधाभास यह कि ऐसा कहने से उनकी प्रतिष्ठा बढती ही गयी घटी बिलकुल नहीं। और ये लोग अधिकाधिक उत्साह से डके की चोट सीधी बात को भी उल्टी करके, जटिल करके धक्का-मार बना के कहन गये तुम कहते हो सूय प्रकाश और जीवन देता है ? बिलकुल गलत। वही तो मृत्यु का कारण है ! चन्द्रमा से जो अमृत झरा करता है वह सूय ही चट कर जाता है। उसका मुह बन्द कर दना ही योगी का परम कतव्य है।[1] क्यांकि जो आकाश म तप रहा है वह वास्तव म सूय नही है, असल म सूय नाभि के ऊपर रहता है और चन्द्रमा तालु के नीचे (हठ० ३—७८)। तुम कहत हो गोमास भक्षण महापाप है ? वारुणी पीना निषिद्ध है ?—भोले हो तुम। यही तो कुलीन का लक्षण है, क्योकि गो जिह्वा का नाम है और उसे तालु म उलटकर ब्रह्मरन्ध्र की ओर ले जाना ही गोमास भक्षण है। तालु के नीचे जो चन्द्र है उससे जो सोमरस नामक अमृत झरा करता है वही ता अमर-वारुणी है। इसका पीना तो बडे पुण्य का फल है ! (हठ ३—४६, ४८)
तुम कहते हो बाल विधवा सम्मान और पूजा की वस्तु है ? सारे समाज को उसके सम्मान की और रक्षा की जिम्मेदारी लनी चाहिए ?—बिलकुल उल्टी बात है। क्योकि गगा और यमुना की मध्यवर्ती पवित्र भूमि म वास करनेवाली एक तपस्विनी बाल विधवा है उसको बलात्कारपूवक ग्रहण करना ही तो विष्णु के परमपद को प्राप्त करने का सही रास्ता है ! कारण स्पष्ट है—गगा इडा है यमुना पिंगला। इन दोना की मध्यवर्तिनी नाडी सुषुम्णा मे कुण्डलिनी नामक बाल रण्डा का जबदस्ती ऊपर उठा ले जाना ही तो मनुष्य का परम लक्ष्य है।[2]

---

१ यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमत दिव्यरूपिण ।
तत्सव प्रसते सूय तेन पिंडो जरायुत ॥—हठ० ३—७६

२ गगायमुनयोमध्ये बालरण्डा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात तद्विष्णो परम पदम ॥
इडा भगवती गगा पिंगला यमुना नदी ।
इडापिंगलयोमध्ये बालरण्डा तु कुण्डली ॥—हठ ३—१

तुम कहते हो कि पचमवर्णी अप्रधत उनकर मन्त्र तन्त्र करने से सिद्धि मिलेगी ?—बतुकी बात है यह। अपनी घरनी को लेकर जब तक केलि नहीं करते तब तक बोधि प्राप्ति की आशा बेकार है। इस तरुणी घरनी के बिना जप होम सब व्यर्थ है क्योंकि घरनी तो असल में महामुद्रा है। उसके बिना निर्वाण पद कैसे मिल सकता है।[१]

योगियो सहजयानियों और तान्त्रिकों के ग्रन्थो से ऐसी उलट बाँसियो का सग्रह किया जाय तो एक विराट पोथा तैयार हो सकता है। परन्तु हम अधिक सग्रह करने की जरूरत नहीं। इस प्रकरण में जो प्रसग उत्थापित किया जा रहा है वही हमारे काम के लिए पर्याप्त है।

सहजयानियो में इस प्रकार की उल्टी बानियों का नाम सन्ध्या भाषा प्रचलित था। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के मत से सन्ध्या भाषा' से मतलब ऐसी भाषा से है जिसका कुछ अश समझ में आवे और कुछ अस्पष्ट लगे पर ज्ञान के दीपक से, जिसका सब स्पष्ट हो जाय। इस व्याख्या में सन्ध्या शब्द का अर्थ साँझ मान लिया गया है और यह भाषा अन्धकार और प्रकाश के बीच की सध्या की भाँति ही कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट बताई गई है। किन्तु ऐसे बहुत से विद्वान हैं जो उक्त भाषा का यह अर्थ स्वीकार नहीं करना चाहते। एक पण्डित ने अनुमान भिडाया है कि इस शब्द का अर्थ सन्धि देश की भाषा है। सन्धि देश भी इस पडित के अनुमान के अनुसार वह प्रदेश है जहाँ बिहार की पूर्वी सीमा और बगाल की पश्चिमी सीमा मिलती हैं। यह अनुमान स्पष्ट ही निराधार है क्योंकि इसमें मान लिया गया है कि बगाल और बिहार के आधुनिक विभाग सदा से इसी भाँति चले आ रहे हैं। महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य का मत है कि यह शब्द मूलत सन्धा भाषा है सन्ध्या भाषा नहीं। अर्थ अभिसन्धिसहित या अभिप्राययुक्त भाषा है। आप सन्धा शब्द को संस्कृत सन्धाय (—अभिप्रेत्य) का अपभ्रष्ट रूप मानते हैं। बौद्ध शास्त्र के किसी-किसी वचन ने सहजयान और वज्रयान में यह रूप धारण किया है। असल में जैसा कि भट्टाचार्य महाशय ने सिद्ध कर दिया है वेदो और उपनिषदो में से भी

---

१ एक्क न किज्जइ मन्त न तन्त। णिय घरणी लेइ केलि करन्त॥
णिय घर घरणी जाव ण मज्जइ ताम कि पचवरण विहरिज्जइ।
एष जप होमे मडल कम्मे। अनुदिन अच्छसि कोहिउ धम्मे।
तो विणु तरुणि निरन्तर नेहे। बोहि कि लागइ राण वि देहे।
—कृष्णाचार्य का दोहा, बौद्ध० प० १३१ ३ और इसकी संस्कृत टीका।

एम उदाहरण खोज निकाले जा सकते हैं जिनम म धा भाषा जैसी भाषा क प्रयोग मिल जाते हैं परन्तु बौद्ध धम की अन्तिम यात्रा क समय यह शा और यह ली अत्यधिक प्रचलित हो गयी थी और साधारण जनता पर इसका प्रभाव भी बहुत अधिक था।

लेकिन अन्त तक यह विरोध कुछ कायकर नहा हुआ। राजनीतिक और अथनीतिक कारणा न मूल समस्या को घर दबोचा। ब्राह्मण मत प्रबल होता गया और इस्लाम के आन के बाद सारा देश जब दो प्रधान प्रतिस्पर्द्धी धार्मिक दलो क रूप म विभक्त हो गया तो किनारे पर पडे हुए अनेक सम्प्रदायो को दोनो म स किसी एक को चुन लेना पडा। अधिकाश लोग ब्राह्मण और वेद प्रधान हिंदू समाज म शामिल होन की प्रयत्न करन लगे। कुछ सम्प्रदाय मुसलमान भी हो गये। दसवी ग्यारहवी सदी के बाद क्रमश वेदबाह्य सम्प्रदायो की यह प्रवृत्ति बढती गयी कि अपने को वेदानुयायी सिद्ध किया जाय। शैवो न भी एसा किया और शाक्तो ने भी। पर तु कुछ माग इतने वेद विरोधी थे कि उनका सामजस्य किसी प्रकार इन मतो स नहा हो सका, वे धीरे धीरे मुसलमान होते रहे। गोरक्षनाथ ने योग माग म एसे अनेक मतो का संघटन किया। हमने ऊपर देखा है कि गुरु गुरुभाई और गुरुसतीथ कहे जाने वाले लोगो का मत भी उनका सम्प्रदाय माना जाने लगा है। जालन्धरनाथ मत्स्येन्द्रनाथ और कृष्णपाद के प्राप्य ग्रन्थो से उद्धरण देकर सिद्ध किया जा सकता है कि ये लोग वेदो की परवाह करने वाले न थे। इन सबके शिष्य और अनुयायी, भारतीय धम-साधना के इस उथल पुथल के युग म गोरखनाथ के नतत्व म संघटित हुए। परन्तु जिनके आचरण और विचार इतने अधिक विभ्रष्ट थ कि व किसी प्रकार के योग माग का अग बन ही नही सकते थे, उन्हे उन्होने स्वीकार नही किया। शिवजी के द्वारा प्रवर्तित जो सम्प्रदाय उनके द्वारा स्वीकृत हुए वे निश्चय ही बहुत पुराने थे। एक सरसरी निगाह से देखने पर भी स्पष्ट हो जायगा कि आज भी उन्ही सम्प्रदायो म मुसलमान योगी अधिक हैं जो शिव द्वारा प्रवर्तित और बाद मे गोरक्षनाथ द्वारा स्वीकृत थे।

कहने का तात्पय यह है कि गोरक्षनाथ के पूव ऐसे बहुत से शैव बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो वेदबाह्य होने के कारण न हिन्दू थे न मुसलमान। जब मुसलमानी धम प्रथम बार इस देश म परिचित हुआ तो नाना कारणो से दो प्रतिद्वन्द्वी धम साधनामूलक दलो म यह देश विभक्त हो गया। जो शैव माग और शाक्त माग वेदानुयायी थे वे बहत्तर ब्राह्मण प्रधान हिंदू समाज म मिल गये और निर तर अपने को कट्टर वेदानुयायी सिद्ध करने का प्रयत्न करते

रहे । गारक्षनाथ न उनका दो प्रधान दलो म पाया होगा—(१) एक तो व जा योगमाग क अनुयायी थे परन्तु नाथ या गोरख नही थे (२) दूसरे व जो शिव या शक्ति क उपासक थे—शवागमो के अनुयायी थे—परन्तु गोरक्ष सम्मत योगमाग क उतने नजदीक नही थे । इनम स जो लोग गारक्ष-सम्मत माग क नजदीक थे उन्हें उन्होंने योगमाग म स्वीकार कर लिया बाकी का अस्वीकार कर दिया । इस प्रकार दोनो ही प्रकार के मार्गो स एस बहुत स सम्प्रदाय आ गय जो गोरक्षनाथ के पूववर्ती थे परन्तु बाद म उन्हें गोरक्षनाथी माना जान लगा । धीरे धीरे जब परम्पराए लुप्त हो गयी तो उन पुराने सम्प्रदायो के मूल प्रवतको को भी गारक्षनाथ का शिष्य समझा जान लगा । इस अनुमान को स्वीकार कर लेने पर वह व्यथ का वाद समूचा स्वयमेव परास्त हो जाता है जो गारक्षनाथ के काल निणय के प्रसग में पडितो न रचा है । तथाकथित शिष्यो के काल के अनुसार वह कभी आठवी शताब्दी के सिद्ध होते हैं तो कभी दसवी के कभी ग्यारहवी के और कभी कभी तो पहली-दूसरी शताब्दी के भी ।

ऊपर का मत केवल अनुमान पर ही आश्रित नहीं है । कभी कभी एकाध प्रमाण परम्पराओ क भीतर से निकल भी आते हैं ।

गोरक्षनाथ और शिव द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायो की परम्परा स्वयमव एक प्रमाण है नही तो यह समझ म नही आता कि क्यो कोई महागुरु अपने जीवित काल म ही अनेक सम्प्रदायो का सघटन करेगा । सम्प्रदाय मतभेद पर आधारित होते हैं और गुरु की अनुपस्थिति मे ही मतभेद उपस्थित होते है । गुरु क जीवितकाल मे होते भी हैं तो गुरु उन्ह दूर कर देते है । परन्तु प्रमाण और भी है ।

योगि सम्प्रदायाविष्कृति म लिखा है (पृ० ४१६ ४२०) कि धवलगिरि स लगभग ८० ६० कोस की दूरी पर पूव दिशा म वतमान त्रिशूल गगा क प्रभवस्थान पवत पर वाममार्गी लोगो का एक दल एकत्र होकर इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार हमारे दल का प्रभाव बढे । बहुत छान-बीन के बाद उन्होंने देखा कि आजकल श्री गोरक्षनाथजी का यश चारो ओर फल रहा है यदि उनसे प्राथना की जाय कि वह हम अपने माग का अनुयायी स्वीकार कर ल तो हम लोगो का मत लोकमान्य हो जाय । इन्होंने इसी उद्देश्य स उन्ह बुलाया । सब कुछ सुनकर श्री गोरक्षजी ने कहा—आप यथाथ रीति स प्रचार कर दें कि अपनी प्रतिष्ठा चाहते है अथवा प्रतिष्ठा की उपेक्षा कर, अपने अवलम्बित माग की वृद्धि करना चाहते हैं ? यदि प्रतिष्ठा चाहते हैं तो आप अन्य सब झगडा को छोडकर केवल योग क्रियाओ स ही सम्बन्ध जोड

लें, इसके अतिरिक्त यदि अपने (पहले से ही गहीत) मत की पुष्टि करना चाहते हैं तो हम यह नही कह सकते कि साधुओ का काय जहाँ गहस्थ जना को सन्माग पर चढा देना है वहाँ वे उन विचारा को कुत्सित पथ म प्रविष्ट करने के लिए कटिबद्ध हो जायें। वाममार्गिया ने—जिन्ह लेखक ने यहाँ 'कपाली' कहा है—दूसरी बात का ही स्वीकार किया और इसलिए गुरु गोरक्षनाथ ने उनकी प्राथना अस्वीकृत कर दी। यह पुराने मत का अपने माग म स्वीकार न करने का प्रमाण है।

पुराने माग को स्वीकार करने का उदाहरण भी पाया जा सकता है। प्रसिद्ध है कि गोरक्षनाथ जी जब गोरखवसी (आधुनिक कलकत्ते के पास) आये तो वहा देवी काली स उनकी मुठभेड हो गयी थी। कालीजी को ही हारना पडा। फलस्वरूप उनके समस्त शाक्त शिष्य गोरक्षनाथ के सम्प्रदाय म शामिल हो गये। तभी से गोरक्षमाग म काली-पूजा प्रचलित हुई। इन दिनों सारे भारत के गोरख-पन्थिया म काली पूजा प्रचलित है। यह कथा योगि सम्प्रदायाविष्कृति म दी हुई है (पृ० १६४ १६६)।

मुसलमानी आक्रमण तीर-फलक के समान उत्तर भारत म तजी से घुस गया। यहाँ यह एक अप्रत्याशित अपरिचित बात थी। इस तीर फलक के चारो ओर उन दिना की बौद्ध और वेद विरोधी अय साधनाएँ छितरा गयी। नाथ और निरजन मत इस तीर फलक के इद गिद नये वातावरण के अनुकूल बनने लगे। कहीं उसने वैष्णव रूप ग्रहण किया कही शव रूप। अचानक दक्षिण के भक्तिमत का अभिर्भाव हुआ।

इस बात का निश्चित प्रमाण है कि ईसवी सन की बारहवी शताब्दी म बिहार और काशी म बौद्धधम खूब प्रभावशाली था। उसके हजारा अनुयायी थे मठ थ विश्वविद्यालय थे और विद्वान भिक्षुओ का बहुत बडा दल था। ११९३ ई० म कुतुबुद्दीन के सेनापति मुहम्मद बख्तियार ने नालन्दा और ओदन्तपुरी क विहारा और पुस्तकालयो को नष्ट किया। कहते हैं कि जब विजेता सेनापति ने स्थानीय लोगा से पुछवाया कि इन पुस्तको मे क्या है तो बताने वाला कोई व्यक्ति वहाँ नही मिला। सम्भवत पहले स ही विद्वान भिक्षु भागकर अयत्र चल गय थे। कदाचित इसी साल बनारस भी जीता गया और सारनाथ का विहार और ग्रन्थागार नष्ट किये गए। यद्यपि सारनाथ का कोई उल्लेख नही प्राप्त है तो भी ऐतिहासिक पडिता का अनुमान है कि वहाँ के पुस्तकागार और

हम उसकी चर्चा करने जा रहे हैं।

सोलहवीं शती में उड़ीसा में छः बड़े भक्त वैष्णव कवि हुए हैं। इनमें से पांच अर्थात् (१) अच्युतानन्द दास, (२) बलराम दास (३) जगन्नाथ दास, (४) अनन्त दास और (५) यशोवन्त दास समसामयिक थे। इनका आविर्भाव उड़ीसा के प्रतापरुद्र नामक राजा के राज्य-काल में हुआ था। छठे चैतन्यदास इनके थोड़े परवर्ती हैं। इनका आविर्भाव प्रतापरुद्र के राज्य काल के अंतिम हिस्से में हुआ था। श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने दिखाया है कि ये वैष्णव कवि वस्तुतः बुद्ध भक्त थे।[1] अपने को राजकीय भय से बचाने के लिए ही ये बुद्ध को भगवान विष्णु का अवतार कहकर पूजा करते थे। श्रीकृष्ण को इन्होंने शून्य रूप और निरंजन रूप कहकर याद किया है। बलराम दास ने विराट गीता में श्रीकृष्ण को बार-बार शून्य रूप कहा है और यह भी बताया है कि वे शून्य में स्थित हैं

> तोहर रूप रेख नाहीं।
> शून्य पुरुष शून्य देही।
> बोइले शून्य तोर देही।
> आवर नाम किव काहीं।

और—

> तोर शून्य रूप शून्य देह।
> कि ना दयारि नाम व्यूह।

अपनी गणेशविभूति टीका नामक पुस्तक में बलराम दास ने शून्य रूप में स्थित ज्योति स्वरूप भगवान निरंजन का वर्णन इस प्रकार किया है

> अनाकार रूप शून्य शून्य मध्ये निरंजन
> निराकार मध्ये ज्योति स ज्योतिर्भगवान स्वयम्।

इस शून्य रूप निरंजन देवता के चक्कर से भक्तों को मुक्त करने के लिये कबीरदास को कितनी बार अवतार ग्रहण करना पड़ा है। कबीरपंथी पुस्तकों में इस निरंजन के प्रताप का बड़ा भयंकर वर्णन है। इसी का नाम शून्य रूप काल और यमराज बताया गया है।

अपने विष्णुगर्भ नामक ग्रंथ में चैतन्यदास ने छः विष्णुओं की चर्चा की है। सनक ने शौनक से प्रश्न किया था कि हे शौनक! एक विष्णु का नाम सारा संसार

---

१ माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स आरकियोलाजिकल सर्वे आफ मयूरभंज पृ० १३७ और आगे।

जाता है पर पाँव और विष्णु किस प्रकार हुए ?' नीलव ने बताया कि महा विष्णु का घर ही शून्य में है और वह स्वयं शून्य-स्वरूप है

शून्य हिंदि ताहार श्रटइ निज घर
शून्य रे थाइ से शून्ये करइ विहार

यहाँ यह लक्ष्य करने की बात है कि कबीरपंथी पुस्तकों में भी निरंजन का पान के लिए 'शून्य' का ध्यान आवश्यक बताया गया है। महादेव दास नामक उड़िया वैष्णव कवि ने धर्मगीता में बताया है कि किस प्रकार महाशून्य ने सृष्टि करने की इच्छा से निरंजन, निर्गुण, गुण और स्थूल रूप में अपने पुत्रों को पैदा किया था पर ये सभी सृष्टि करने में असमर्थ रहे। अंत में उस महाशून्य महाप्रभु ने अपने को धर्म रूप में आविर्भूत किया। इसी 'धर्म' ने माया की सहायता से महाविष्णु और महेश्वर नामक पुत्रों को उत्पन्न किया और सृष्टि रचना की। यह कथा कबीरपंथी साहित्य की कथाओं से प्रायः हू-ब-हू मिल जाती है। बंगाल के रमाई पंडित ने अपने शून्य पुराण में (जिसकी चर्चा आगे की जा रही है) कुछ इसी प्रकार की सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया है।

सन १५२६ ई० में उड़ीसा के राजा प्रतापरुद्र ने बौद्धों का दमन किया था। इससे इतना तो स्पष्ट है कि वहाँ उन दिनों बहुसंख्यक बौद्ध वर्तमान थे। तारानाथ ने लिखा है कि उड़ीसा का अन्तिम राजा मुकुन्द देव जिसे मुसलमानों ने राजच्युत किया था बौद्ध था और उसने अनेक बौद्ध मन्दिर और मठ स्थापित किये थे।

ऐसा जान पड़ता है कि उड़ीसा के उत्तरी भाग तथा छोटा नागपुर के जंगली इलाकों को घेरकर वीरभूम में रीवा तक फैले हुए भूभाग में अनेक स्थलों पर धर्म देवता या निरंजन की पूजा प्रचलित थी। अनुमान किया गया है कि यह धर्म सम्प्रदाय बौद्धधर्म का प्रच्छन्न (या विस्मृत) रूप था। बिहार के मानभूम, बंगाल के वीरभूम और बाँकुड़ा आदि जिलों में एक प्रकार के धर्म-सम्प्रदाय का पता हाल ही में लगा है। यह धर्म मत अब भी जी रहा है।

धर्मपूजा विधान में निरंजन का ध्यान इस प्रकार दिया हुआ है

ओं यस्यान्त नादिमध्यं न च करचरणं नास्तिकायो निनादम
नाकारं नादिरूपं न च भयमरणं नास्ति जन्मव यस्य ।
योगीन्द्रध्यानगम्यं सकलदलगतं सर्वसंकल्पहीनम
तत्रैकोऽपि निरञ्जनोऽमरवरः पातु मां शून्यमूर्तिः ।।

रमाई पंडित के शून्यपुराण में धर्म को शून्य रूप, निराकार और निरंजन कहकर ध्यान किया गया है

शून्यरूप निराकार सहस्रविघ्नविनाशनम ।
सर्वपर परदेव तस्मात्त्व वरदो भव ।। निरजनाय नम ।।

धर्माष्टक नामक एक निरजन का स्तोत्र पाया गया है जिसकी सस्कृत तो बहुत भ्रष्ट है पर उससे निरजन के स्वरूप पर बडा सुन्दर प्रकाश पडता है।[1]

इधर हाल ही म पता चला है कि धम शब्द वस्तुत आस्ट्रो एशियाटिक श्रेणी की जातियो की भाषा के एक शब्द का सस्कृतीकृत रूप है। यह कूम या कछुए का वाचक है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने बताया है कि दुल या दुली शब्द जो अशोक के शिलालेखो म भी मिलता है और उत्तर कालीन सस्कृत भाषा म भी गृहीत हुआ है और जो कछुए का वाचक है आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा का शब्द है। सथाल आदि जातियो की भाषा म यह नाना रूपो मे प्रच लित है। इन भाषाओ म ओम स्वाथक प्रत्यय हुआ करता है और दुरोम दुनोम दरोम का भी अथ कछुआ होता है। इसी शब्द का सस्कृत रूप धम है जो सस्कृत के इसी अथ के साथ गडबडा दिया गया है। इस प्रकार धम पूजा जिसम कछुए का मुख्य स्थान है सम्भवत सथाल मुडा आदि जातियो के विश्वास

---

१ ओं न स्थान न मान न चरणारविन्द रक्त न रूप न च धातुवण ।
द्रष्टा न दृष्टि श्रुता न श्रुतिस्तस्म नमस्तेऽस्तु निरजनाय ।
ओ श्वेत न पीत न रक्त न रेत न हेमस्वरूप न च वणकण
नवद्राकवह्नि उदय न अस्त तस्म नमस्ते निरजनाय ।
ओ न वक्ष न मूल न बीज न चांकुर शाखा न पत्र न च स्कधपल्लव
न पुष्प न गध न फल न छाया तस्म नमस्ते निरजनाय ।
ओं न अधो न ऊध्व शिवो न शक्तो नारी न पुरुषो न च लिगमूर्ति ।
हस्त न पाद न रूप न छाया तस्म नमस्ते निरजनाय ।
ओं न पचभूत न सप्तसागर न दिशा विदिशा न च मेरु मन्दिर ।
ब्रह्मा न इन्द्र न च विष्णु रुद्र तस्म०
ओं ब्रह्माण्डखण्ड न च चन्द्रसूय न कालबीज न च गुरु शिष्य ।
न ग्रह न तारा न च सप्तजाता तस्म०
ओं वेदो न शास्त्र स ध्या न स्तोत्र मन्त्रो न जाप्य न च ध्यानकारण ।
होम न दान न च देवपूजा तस्म०
ओं गम्भीरपार निर्वाणशून्य समास्सार न च पापपुण्य ।
विकृति न विरूपो न दर्वेच मम चित्त शोन तस्म नमस्ते ।
—धमपूजा विधान पृ० ७७ ७८ ।

का रूप है। कबीर पथ मे अब भी कूम जी का सम्मान बना हुआ है यद्यपि उनक दूसरे नाम धम की इज्जत बहुत घट गयी है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि मुडा लोगो म रमाइ पडित का स्थान बहुत महत्त्वपूण है।

आग चलकर इस निरजन मत म इस्लाम का प्रभाव भी मिल गया था, पर वह यहा विवेच्य नही हैं। यहा इतना ही लक्ष्य करने की बात है कि पश्चिमी बगाल और पूर्वी बिहार म धमपूजा एव जीवित मत है। उसक सबम बड़े देवता निरजन या धम हैं। उन्हे रूप वण आदि स अतीत और शून्य रूप बताया गया है। इस पन्थ का अपना साहित्य है जिसे बगाल म धम मगल साहित्य नाम दिया गया है। पडितो का अनुमान है कि धमपूजा बौद्धधम का भग्नावशेष है। कुछ दूसर पण्डितो का अनुमान है कि धम या निरजन देवता वस्तुत आदिवासियो के ग्रामदेवता हैं। बाद म जब राढभूमि और झारखड म पाल राजाओ का प्रभुत्व बना तो बौद्धधम बहुत सम्मानित हुआ और ग्रामदेवता भी बौद्ध रग म रँग गये। निरजन या धम देवता भी बुद्ध के नये रूप म प्रकट हुए। जो हो धमपूजा म बौद्धप्रभाव है जरूर।

सक्षेप मे स्थिति यह है कि राढभूमि पूर्वी बिहार, झारखड और उडीसा म एक ऐसे परम देवता की पूजा प्रचलित थी (और कहीं-कहीं अब भी है), जिसका नाम धम (धमराज) और निरजन था और जिस पर बौद्धमत का जबरदस्त प्रभाव था। यह भी हो सकता है कि वह बौद्धमत का आरम्भ मे प्रच्छन्न रूप रहा हो पर बाद म विस्मृत रूप बन गया हो। कबीर मत को इस पन्थ स निबटना पडा था। विशेष रूप मे कबीर पन्थ की दक्षिणी शाखा (अर्थात धमदासी सम्प्रदाय) को इस प्रबल प्रतिद्वन्द्वी मत को आत्मसात करन का श्रेय प्राप्त है। इस सम्प्रदाय को मानन वाला पर अपना प्रभाव विस्तार करने के लिए कबीर मत मे उनकी समूची जटिल सष्टि प्रक्रिया और पौराणिक कथाएँ ले ली गयी थीं। केवल इतना सुधार सवत्र कर लिया गया था कि निरजन के प्रभाव म जगत को मुक्त करन के लिए सत्यपुरुष ने बार-बार ज्ञानीजी को इस धराधाम पर भेजा था। ज्ञानीजी कबीर का ही नामान्तर है।

इस निरजन की उत्पत्ति के बार म शून्यपुराण म लिखा हुआ है कि जब आरम्भ म रूप रखा वण चिह्न, सूय चन्द्र आदि कुछ भी नहा थे—केवल अधकार ही अधकार था—उस समय महाप्रभु शून्य मे विराज रह थ। उनके मन म जब सृष्टि करन की इच्छा उत्पन्न हुई तो उन्होंने अनिल की सष्टि की और स्वय बिम्ब या बुदबुद पर समासीन हुए। प्रभु क भार को सहन न कर सकन के कारण बिम्ब या बुदबुद खड मड हाकर चूण हो गया। प्रभु

शू य मे विराजमान हुए। फिर जब प्रभु के मन म विश्व के प्रति दया उत्प न हुई तो उ होने स्वय ही अपनी काया बनायी। यही निरजन या धम हुए। शुरू शुरू मे इस निरजन-काया म हाथ पैर आंख कान आदि कुछ भी नही थ। निरजन न चौदह युग तक अपनी जम्हाई स उत्प न एक उलूक की पीठ पर ब्रह्मध्यान म काट दिया। बेचारा उलूक भूख-प्यास स व्याकुल हो गया। तब निरजन ने अपने मुख का अमत उसे दिया। उसी अमत का कुछ हिस्सा शू य म जा गिरा जो पानी बन गया। उल्लू बहने लगा। तब निरजन की इच्छा से हस का ज म हुआ और निरजन उस पर जा विराजे। हस भार सहन नही कर सकने के कारण वहा से भाग खडा हुआ। उलूक मुनि न जा यह दशा देखी तो अपने पख फलाकर निरजन भगवान के पास पास फिरने लगे। निरजन ने उन पखो को अपने करकमलो से स्पश किया जिसस कूम का आविर्भाव हुआ। इसी कूम की पीठ पर धम या निरजन देवता ने आसन ग्रहण किया। इस प्रकार एक ओर कूम दूसरी ओर उलूक और मध्य म निरजन भगवान या धमनारायण ध्यानमग्न हो युगो तक विचरते रहे। पर तु अ त म कूम भी भार न सह सका और फिर धम और उलूक पानी म बहने लगे। उलूक की प्राथना पर धम न अपना जनऊ फेंका जो वासुकि नाग बना और फिर पथ्वी बनी। धमदवता और उलूक पथ्वी भ्रमण करन निकले। जब थककर वे पसीने स तर हो गये तो उसी पसीने से आद्या का ज म हुआ। यौवनभार म थरा आद्या ने कामदेव को उत्प न किया जो धमदेवता का तपोभग करने चला पर अभागा पकडा गया। उलूक ने उसे मिट्टी के भाड म ब द कर दिया, जिससे कालकट विष उत्प न हुआ। निराश होकर यौवन मदमत्ता आद्या ने उस विष को ही खा लिया और उसे गभ रह गया। इसी गभ स तीन पुत्र ब्रह्मा विष्णु और शिव उत्प न हुए। तीनो ने घोर तप किया। धमदेवता उनको छलने के लिए दुग ध शव रूप धारण करके उनके पास गये। ब्रह्मा ने भी उस शव को ठेल दिया और विष्णु ने भी पर शिव ने उसे स्वीकार किया। फल-स्वरूप प्रस न होकर धम नारायण न शिव को त्रिनेत्र होन का वर दिया। शिव के मुखामत से ही ब्रह्मा और विष्णु के आँखें हुई। इसके बाद आद्या अपने तीनो पुत्रो के साथ निरजन के पास गयी और सृष्टि रचना का उपाय पूछा। निरजन या धमदवता न आज्ञा दी कि योनिरूपा हो जाओ और समस्त जीव-ज तु तुम से ज म ल।

महान्द दास नामक उडिया वष्णव कवि की धम गीता म धम की उत्पत्ति और सृष्टि रचना क बार म यह कथा है

आरम्भ म जब सूय च द्र अष्ट दिक्पाल आदि कुछ भी नही थ उस समय

महाप्रभु शून्य में आसन जमाकर बैठे हुए थे। जब महाप्रभु ने समस्त दुरिता का नाश कर दिया तो उनके शरीर से धर्म का मुख प्रकाशित हुआ। उससे उन्होंने जम्हाई ली जिससे पवन की उत्पत्ति हुई। महाप्रभु ने पवन को सृष्टि रचना की आज्ञा दी पर पवन को डर लगा कि यदि मैं सृष्टि करूँगा तो उसके मोह में पड़ जाऊँगा इसलिए उसने सृष्टि करने का संकल्प छोड़ दिया और योग-तप में निमग्न हो रहा। फिर महाप्रभु ने अपने युग नामक दूसरे पुत्र को सृष्टि करने की आज्ञा दी। उसे भी संसार चक्र में मोह-ग्रस्त होकर फँस जाने का भय हुआ और इसलिए उसने भी सृष्टि नहीं की। फिर तो महाप्रभु ने निरञ्जन नामक तीसरे पुत्र को उत्पन्न किया। वह भी उसी भय से लौट आया। फिर महाप्रभु ने निर्गुण नामक पुत्र को उत्पन्न किया जिसने गुण नामक पुत्र को उत्पन्न कर सृष्टि करने की आज्ञा दी। गुण ने स्थूल को उत्पन्न करके वही आज्ञा दी। उसने धर्म नामक पुत्र उत्पन्न करके उससे कहा कि तुम सृष्टि रचना का आरम्भ करके तुरन्त लौट आना नहीं तो मोह में फँस जाओगे। वह बेचारा घबराया कि यह कैसे हो सकता है कि मैं मोह की रचना करूँ और उसी मोह से बचा भी रहूँ। उसके माथे से पसीना निकल आया। उसी पसीने से माया नामक एक स्त्री उत्पन्न हुई जिसे देखकर उसके चित्त में विक्षोभ हुआ और उसका शुक्र स्खलित होकर तीन हिस्सों में बँट गया जिससे ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उत्पत्ति हुई। इन तीन पुत्रों को सृष्टि करने का आदेश देकर जब धर्म जाने को तैयार हुआ तो वह माया भी उसके साथ जाने को तैयार हुई पर धर्म ने उसे पुत्रों के साथ ही रहने का आदेश दिया। इस प्रकार इस कथा के अनुसार महाप्रभु-पवन युग निरञ्जन निर्गुण गुण-स्थूल धर्म-माया त्रिदेव यह सृष्टिक्रम है।

यहाँ बंगाल और उड़ीसा में प्राप्त दो कथाएँ दी गयी हैं। इस प्रकार की और भी कथाएँ दी जा सकती हैं परन्तु उन्हें बताना बेकार है। आगे हम देखेंगे कि कबीर पंथ को जिन क्षेत्रों में काम करना पड़ा था, उन क्षेत्रों में इस कथा का रूप इससे मिलता-जुलता था। कबीर-पंथी पुस्तकों में भी कई छोटी मोटी तफसीलों में अन्तर है। कारण यह है कि स्थानभेद से कबीर मत के प्रचारकों को कथाएँ कुछ भिन्न रूपों में प्राप्त हुई थीं। उन्होंने उन्हें बड़ी चतुराई से अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यवहार किया और समूचा धर्ममत उनके प्रभाव में आ गया।

इस प्रसंग में लक्ष्य करने की बात यह है कि जिस प्रकार उड़ीसा में बौद्ध-धर्म वैष्णव धर्म के रूप में आविर्भूत होकर भी ब्राह्मणों का कोपभाजन बना था उसी प्रकार उन क्षेत्रों में भी हुआ था जो बौद्ध के प्रचार क्षेत्र में आते

विप्रमतीसी म ब्राह्मणा के वष्णव विद्वेष का उल्लेख है

हरि भगतन के द्रूत लगाई।

विष्णुभक्त देखे दुख पाये।

कबीरबानी और 'अनुरागसागर म कबीरदास के मुह से कहलवाया गया है कि काल (निरजन) कबीर के नाम पर बारह पथ चलाएगा जो लोगो को कबीर की वास्तविक शिक्षाओ स वचित रखकर उन्हे भ्रम के फद म डाल रखेगा। कबीरबानी के अनुसार[1] इन बारह मता म स तीसर का नाम मूल निरजन' मत है। हम किसी अन्य मूल से यह स्पष्ट नही हो सका है कि यह मूल निरजन मत क्या था। कबीरबानी म केवल इसका नाम भर दिया गया है। परन्तु अनुरागसागर म इस पथ का कुछ विस्तत वणन दिया गया है। यह वणन भी अस्पष्ट ही है। इससे इतना ही पता चलता है कि काल का मनभग' नामक दूत 'मूलकथा को लेकर पथ चलायगा और अपने पथ का नाम मूल पथ कहेगा। वह जीव का लूदी' नाम समभायेगा और इसी नाम को पारस कहकर प्रचार करेगा। झग शब्द का सुमिरन मुह से कहेगा और समस्त जीवो को एक साथ पकडकर रखेगा।[2] ऐसा जान पडता है कि कबीर पथ की प्रतिष्ठा के बाद भी मूल निरजन सम्प्रदाय ने एक बार सिर उठाया था और उस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा कायम करनी चाही थी जिसे कबीर पथी साहित्य म कबीर महिमा के प्रचार क लिए उपयोग म लाया गया है। परन्तु कबीर पथी पुस्तकों स मालूम होता है कि इस मूलकथा को आश्रय करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित करने का प्रयास करने वाला यह मूल निरजन पथ अपने को कबीर मतानुयायी ही मानता था। जो हो कबीर

---

१ कबीरबानी पृ० ४६ ४७

२ चौथा पथ सुनो धमदासा

मनभङ्ग दूत कर परकासा॥

कथा मल ले पथ चलावे

मूल पथ कहि जग महि आवे॥

लूदी नाम जीव समभायो।

यही नाम पारख ठहरायो॥

झग शब्द सुमिरन भाखे।

सकल जीव याका गहि राखे॥—अनुरागसागर, पृ० ६४ ६५

साहित्य से इस विस्मृत किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण मत का यत्किंचित् परिचय मिलना अवश्य है।

कबीरपंथ की सृष्टि प्रक्रिया विषयक पौराणिक कथा का संक्षिप्त विवरण लेखक ने अन्यत्र दिया है[1]। उसका पुनरुल्लेख यहा विस्तार भय से छोड दिया जा रहा है। इसमें हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं—

(१) कबीरपंथ का एक ऐसा प्रतिद्वन्द्वी मार्ग था जिसके परम-देवता निरजन थे। इस देवता के दूसरे नाम यमराज और काल थे।

(२) इस निरजन का निवास-स्थान उत्तर मे मानसरोवर म था।

(३) ब्रह्मा का चलाया हुआ ब्राह्मण मत इस निरजन को समझ न सकने के कारण मिथ्यावादी और स्वार्थी हो गया। यह ब्राह्मण मत भी कबीरपंथ का प्रतिद्वन्द्वी था।

(४) निरजन को पाने के लिए शून्य का ध्यान आवश्यक था।[2]

(५) उड़ीसा के जगन्नाथजी निरजन के रूप हैं।[3]

(६) द्वितीय चतुर्थ और पचम निष्कर्ष से अनुमान होता है कि निरजन बुद्ध का ही नाम था।

(७) निरजन न सारे ससार को भरमा रखा है—ऐसा प्रचार कबीरपन्थ को करना पडा था।

(८) 'अनुरागसागर' 'वामगुजार' आदि ग्रन्थो से केवल दो प्रतिद्वन्द्वी मतो का पता चलता है—निरजन द्वारा प्रवर्तित निरजन मत, और ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित ब्राह्मण मत। तीसरा मत विष्णु द्वारा प्रवर्तित वैष्णव मत है। कबीरपन्थ के ग्रन्थ इस मत को कथचित् अनुकूल

---

१ दे० हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कबीर'।

२ यमगीता मे महादेव दास ने कहा है कि जिस शून्य में महाप्रभु का वास है उसे ही वैकुठ कहा जाता है

शून्य श्रीमक याहार शून्य भोगवासी।
न शोभे बचत रूप रेख नाहि किछि।
से अ धार भुवने से प्रभुङ्क आसन।
से स्थान मबुङ्क शुद्ध बकुठ भुवन।—मोहन बुद्धिरम प० १६०

३ तु० तत कलौ सप्रवृत्ते समोहाय सुरद्विषा।
बुद्धनाम्नाऽञ्जनसुत कीकटेषु भविष्यति।—भागवत १ ३ २४

पात है ।[1]

(९) 'श्वासगुजार' आदि ग्रन्थों से प्राप्त यह कथा प्रायः उलझे हुए रूप में मिलती है जो इस बात का प्रमाण है कि यह किसी भूली हुई पुरानी परम्परा का भग्नावशेष है ।

इस प्रकार यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत सी रचनाएँ परवर्ती हो सकती हैं फिर भी उनसे अनेक भूले हुए ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ सकता है । कबीरपंथी साहित्य के अध्ययन के बिना जिस प्रकार धर्म और निरंजन मत का अध्ययन अधूरा रह जाता है उसी प्रकार बंगाल, उड़ीसा और पंजाब आदि प्रान्तों के निरंजन मत का अध्ययन किये बिना कबीर साहित्य का अध्ययन भी अपूर्ण रह जाता है । भारतीय साधना-साहित्य में यह एक महत्त्वपूर्ण विरोधाभास है कि रचना-काल की दृष्टि से परवर्ती होने पर भी कभी-कभी पुस्तकें अत्यन्त पुरातन परम्परा का पता देती हैं । गोरक्ष सम्प्रदाय की अनुश्रुतियाँ, कबीरपन्थ के ग्रन्थ, धर्मपूजा विधान साहित्य यद्यपि रचनाकाल की दृष्टि से बहुत अर्वाचीन हैं तथापि वे अनेक पुरानी परम्पराओं के अवशेष हैं । समूची भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता है । लोकभाषाओं का साहित्य हमें अनेक अधभूली भूली और उलझी हुई परम्पराओं के समझने में अमूल्य सहायता पहुँचाता है । भारतीय संस्कृति के विद्यार्थी के लिए इनकी उपेक्षा हानिकारक है ।

---

१ कबीर मंसूर पृ० ६४

रूप और सौन्दर्य के मर्मज्ञ गायक कालिदास

कालिदास रूप सौन्दय के कवि हैं। परन्तु रूप क्या है और उसका फल क्या है? आभूषण और अगराग क्या रूप के सहायक है? कसे सहायक है?

कालिदास ने अपने ग्रन्थो म भूषण (रघु० १८।४५, १६।४५, मेघ० २।१२), आभरण (माल० ५।७ रघु० १४।५४ कुमार० ३।५३ ७।२१ इत्यादि) अलकार (माल०), मण्डन (कुमार० १।४ २।११) आदि शब्दो का प्रयोग किया है। शास्त्रीय ग्रन्थो म इनके अलग अलग अर्थ बताए गए है। पर ऐसा जान पडता है कि कालिदास एक के अर्थ म दूसरे का प्राय प्रयोग करते हैं। उन्होंने वल्कल को भी मण्डन कहा है। (शाकु० १।१६) और चित्र विचित्र वस्त्रो नयनो म विभ्रम विलास उत्पन्न करने वाली मदिरा को, पुष्पो और किसलयो को तरह-तरह के आभूषणो को और चरण-कमलो को और भी मोहक बना देनेवाले लाक्षारस या महावर को भी (मेघ० २।१२)। शकुन्तला को कण्व ने 'प्रियमण्डना' कहा था और फिर आश्रम वक्षों के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण वह उनके पल्लवो को मण्डनकार्य के लिए नही तोडती थी। यहाँ तरुपल्लव भी मण्डन द्रव्य माने गए हैं। (शकु० ४।९)। इसी प्रकार उन्होने वसन्त पुष्पो (अशोक कर्णिकार, सिन्दुवार) को भी आभरण कहा है (कुमार० ३।५३) और अन्य आभूषणो को भी (कु० ७।२१)। ऋतुसहार म एक जगह (२।१२) माल्य, आभरण और अनुलेपन शब्दो का एक साथ प्रयोग हुआ है जिससे जान पडता है कि इनके विशिष्ट अर्थों की ओर उनका ध्यान था अवश्य। साधारणत उन्होने अलकार और भूषण शब्दो का प्रयोग स्वर्ण मणि आदि से बने अलकारो के लिए किया है। मण्डन शब्द का प्रयोग प्राकृतिक उपादान, जैसे पुष्प, पल्लव, मृणालवलय तथा अगराग जैसे चदन, कुकुम

गोरातरा कस्तूरी अलतार आदि का प्रयाग म किया है और आभरण ना का प्रयोग नारा म था म । उत्त ग्रथा म अनक प्रकार न मण्डन म्य न रूप का शृगार न वाली स्त्री प्रसाधिकाआ की भी चर्चा आती है (कुमार० ७।२० रघ० ७।७) और मालिक को सजाने वाल पुरुष प्रसाधका की भी चर्चा पाई जाती है (रघ० १७।२२)। इतना नि चत जान पड़ता है कि कालिदास के युग म प्रसाधन-कला अपने शिखर पर थी और कलादि का विशेष का पता भी चल चुकी थी।

परन्तु कालिदास पुरुष और स्त्री के सहज गुणा को ही मान्य न्त है। रूप, वण प्रभा राग आभिजात्य, विलासिता लावण्य लक्षण छाया और सौभाग्य का शृगार दो म जो समय हो वही असल म अलकार है। भरत मुनि न नाट्यशास्त्र म सुन्दरिया के भाव रसाश्रय अलकारणा की चर्चा की है। इनम तीन शारीरिक या अगज हैं—भाव हाव, हेला, सात अयत्नज हैं जिना किसी यत्न के विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं—शोभा काति दीप्ति माधुय धय, प्रगल्भता और औदाय दस स्वाभाविक हैं विशेष विशेष स्वभाव के व्यक्तियो म मिलते हैं—लीला विलास विच्छित्ति विभ्रम किलकिंचित मोट्टायित कुट्टमित ललित और विहृत। पुरुषो म भी शोभा विलास माधुय स्थय गाम्भीय ललित औदाय तेज आदि गुण अमल सिद्ध अलकरण हैं। कालिदास की दृष्टि मुख्यत इन्ही सहज गुणा की ओर गई है। इन गुणो के होने पर बाहरी आभरण हा तो भले न हा तो भल। शास्त्रो म बताया गया है कि समस्त अवस्थाओं मे चेष्टाओं की रमणीयता ही माधुय है। जिस रूप म यह गुण होता है वह मधुर कहा जाता है। शकुन्तला की आकृति ऐसी ही थी। कालिदास ने कहा है कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मधर आकतिया का मण्डन न बन जाए ? कमल का पुष्प शवाल जाल से अनुबिद्ध होकर भी रमणीय बना रहता है, चद्रमा का काला धब्बा मलिन होकर भी शोभा विस्तार करता रहता है और तन्वी शकुन्तला वल्कल वेष्टिता होकर और भी मनोज्ञ बन गई थी—

सरसिजमनुविद्ध शवलेनापि रम्य
मलिनमपि हिमाशोर्लक्ष्म लक्ष्मी तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणा मण्डन नाकृतीनाम ॥

(शकु० १।१६)

इसी प्रकार पुरुष मे यदि तेज हो तो राजचिह्न और महाघ आभरणा के बिना भी वह दूर से ही पहचान लिया जा सकता है—उसी प्रकार जिस

प्रकार अन्तमदावस्थ उस गजराज को पहचान लिया जाता है जिसकी मदधारा अभी प्रकट नहीं हुई है। दिलीप ने राजचिह्न छोड दिए थे लताप्रतानों में फसकर उनके लम्बे-लम्बे केश बुरी तरह उलझ गए थे, पर तेजोविशेष की दीप्ति से उन्हें पहचान लेना फिर भी आसान था—

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं
तेजोविशेषानुमितां दधानः ।
आसीदनाविष्कृतदानराजि
रन्तमदावस्थ इव द्विपेन्द्रः ॥
(रघु० २।७)

कालिदास ने नारी सौन्दर्य को बहुत महिमा मंडित देखा है। इसका मुख्य कारण उनकी यही निसर्ग सौन्दर्य-दर्शिनी दृष्टि है। भारतीय धर्म साधना में देवी देवताओं में शरीर और मन में आद्या शक्ति—विधाता की आद्या सृष्टि (मेघ० २)—का विलास अपनी चरम परिणति पर आता है। शोभा का अनुप्राणक धर्म यौवन माना गया है—तत्रापि नव-यौवन। राजानक रुय्यक ने अपनी सहृदय हृदय लीला नामक पुस्तक में बताया है कि इसी अवस्था में अंगों में सौष्ठव और विपुलीभाव आता है और उनका पारस्परिक विभेद स्पष्ट होता है। कालिदास के शब्दों में कहें तो वपु विभक्त हो जाता है उसमें असमानता प्रादुर्भूत होती है—बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन (कुमार० १।३१)। कालिदास ने इस अवस्था को अंग-यष्टि का असंभृत मण्डन (अर्थात् अयत्न सिद्ध सहज अलंकरण), मद का अनासव साधन (बिना मदिरा के ही मस्त बनाने वाला सहज मादक गुण) और प्रेम के देवता का बिना फूल का बाण (सहजसिद्ध अभिलाषहेतु) कहा है—

असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टे
रनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं
बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥
(कुमार० २/३१)

सत्कुल में जन्म, सुन्दर शरीर और अनायास प्राप्त ऐश्वर्य तथा नवयौवन—इनसे बढ़कर तपस्या के फल की कल्पना नहीं की जा सकती—

कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधस
स्त्रिलोक सौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।

अप्रगम्यमश्वयमुल नव वय
तप फल स्यात किमत पर वद ॥
(कुमार० ५।४१)

शोभा और सौन्दर्य के वर्णन में नवयौवन के इस विभेदक धर्म को कालिदास ने विशेष रूप से मान दिया है। इस विभेद या उभार को कालिदास ने जमकर अलंकार लक्षित करके सहृदय हृदय गोचर बनाया है। इसीलिए वह उभरे हुए वक्षस्थल पर झूलते हुए हार (चाहे वे शरत्कालीन चन्द्रमा की मरीचियों के समान कोमल मृणाल-नाल के बने हों या मुक्ताजाल ग्रथित हेम सूत्र में गढ़े गए हों) श्रोणीबिम्ब को मंडित करने वाली कनक काञ्ची या हेम मेखला हंसरतानुकारी नूपुर स्तनांशुक अपांग विलास मदिरालसनयनापांग आदि का जमकर वर्णन करते हैं। कंकणवलय या मृणालवलय उन्हें पसन्द है क्योंकि वे सुवृत्त कलाइयों की शोभा को निखार देते हैं। लाक्षारस और लहरदार किनारी उन्हें रुचिकर है। ताम्बूलराग सिन्दूरराग गोरोचना तिलक धम्मिल्लपाश आदि इसीलिए वर्णनीय हैं कि वे चतुरस्र शरीर के उभार को अधिक खिला देते हैं। प्रेम का देवता बहुत प्रकार से नवयौवनशाली शरीर में निखार करके इस विभेद या उभार को आकर्षक बना देता है—

अंगानि निद्रालसविभ्रमाणि
वाक्यानि किञ्चिन्मदिरालसानि ।
भ्रूक्षेपजिह्मानि च वीक्षितानि
चकार कामः प्रमदाजनानाम् ।
(ऋतु० ६।१२ १३)

किन्तु केवल रूप और यौवन अपने आपमें पर्याप्त नहीं है। प्रेम होना चाहिए। कालिदास ने युवावस्था के मनोहर रूप के दो पक्षों पर अधिक बल दिया है। (१) उनके समय में यह प्रवाद प्रचलित था कि विधाता जिसे रूप देता है उसके चित्त में महनीय गुण भी देता है उसका चित्त पापवृत्ति की ओर नहीं जाता। यह प्रवाद कालिदास की दृष्टि में सत्य है—यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः । इसका मतलब यह हुआ कि पापवृत्ति की ओर उन्मुख होनेवाला रूप वस्तुतः रूप है ही नहीं। कालिदास इस सिद्धान्त को पूर्णतः स्वीकार करते हैं। (२) प्रिय के प्रति सौभाग्य उत्पन्न करना ही रूप-सौन्दर्य का वास्तविक फल है— प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता' (कुमार० ५।१) । राजानक रुय्यक ने दस शोभाविधायी धर्मों में प्रथम को रूप कहा है और अन्तिम को सौभाग्य । सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसके

भीतर प्रकृत्या वह रजक गुण होता है जिससे सहृदय लोग उसी प्रकार स्वयमेव आकृष्ट होते है जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर। ऐसे ही सुभग व्यक्ति के आतरिक वशीकरण धर्म को सौभाग्य' कहते हैं। कालिदास ने मेघदूत (१।३१) म सौभाग्य ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ति' म इस शब्द का व्यवहार इसी अर्थ म किया है। यह लक्ष्य करने की बात है कि सौभाग्य की व्यजना विरहावस्था म होती है। रूप बाह्य आकर्षण है, सौभाग्य अन्तरतर का। पार्वती ने रूप की निंदा की थी और सौभाग्य की कामना— निनिन्दरूप हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता।

सो, कालिदास के अनुसार यह आतरिक वशीकरण धर्म ही रूप का फल है। इसीलिए उनके रूप वर्णन का एक ही लक्ष्य है प्रेमी म उस शक्ति की प्रतिष्ठा जो प्रिय को सहज ही आकृष्ट कर सके। अत्यन्त उच्छल शृगारिक वर्णन के प्रसग में भी कालिदास इस बात को नही भूलते। उनके मत से मदन या मन्मथ द्विधाभूत शक्तियो का आश्रय है। एक ओर तो वह अग जग मे व्याप्त मगल निरपेक्ष यौन आकर्षण है। रूप उसका सहायक बनकर निन्दनीय होता है। कुमारसम्भव का मदन-दहन और शकुन्तला के प्रथम प्रेम का प्रत्याख्यान इसी मगल निरपेक्ष यौन आकर्षण का प्रतिवाद है। पार्वती का सारा रूप मदन का सारा पराक्रम और वसन्त का समूचा आयोजन तपस्वी के एक भ्रूक्षेप म बह गया। देवता चिल्लाते रह गए कि हे प्रभो, क्रोध को रोकिए! उनकी वाणी अभी आसमान मे ही थी कि शिव के नेत्र से उत्पन्न अग्नि ने प्रेम के इस देवता को भस्मावशेष बना दिया—

क्रोध प्रभो सहर सहरेति
यावद्गिर खे मरुता चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा
भस्मावशेष मदन चकार॥

(कुमार० ३।७२)

पार्वती ने अपने शरीर के लालित्य को व्यर्थ समझा (व्यर्थ समर्थ्य ललित वपुरात्मनश्च) और तपस्या के द्वारा रूप को अव्यर्थ करना चाहा। बिना तप के ऐसा सौभाग्य ऐसा प्रेम ऐसा पति कैसे मिल सकता था।

मध्यम मार्ग

भगवान बुद्ध ने आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले जिस धर्म मत का प्रचार किया था उसे मध्यम मार्ग कहा जाता है। मध्यम मार्ग अर्थात बीच का रास्ता। उन्होंने स्वयं इसे मध्यमा प्रतिपदा या मध्यमा प्रतिपत्ति कहा था। परन्तु यद्यपि बुद्ध भगवान के बनाए रास्ते को मध्यम मार्ग कहना रूढ़ हो गया है तथापि यह नहीं समझना चाहिए कि इस प्रकार का विचार किसी और ने कभी रखा ही नहीं।

भगवान् बुद्ध ने अपने जमाने में जिन लोगों को देखा था वे साधारणतः दो बड़ी श्रेणियों में रखे जा सकते हैं। एक तो वे लोग थे जो आत्मा नामक एक नित्य शाश्वत सदा रहनेवाले पदार्थ में विश्वास करते थे और संसार को दुःख रूप अनित्य और क्षणभंगुर मानकर कठिन तपस्या में लग जाते थे। वे कई प्रकार से अत्यन्त कठोर तप करते थे। पचाग्नि तापते थे सर्दी में जल में पड़े रहते थे सिर के बाल नुचवा लेते थे वर्षों खड़े रह लेते थे उलटे मुंह लटक के धुआं पी लेते थे करपत्र पर कटकर मर जाते थे तथा और भी न जाने कितने प्रकार के कायाक्लेश की साधना करते थे। उनका विश्वास था कि ऐसा करके वे दुःखमय भवलोक को अनायास पार कर जायेंगे और किसी शाश्वत आनन्द के अधिकारी होंगे। दूसरे प्रकार के लोग वे थे जो खाओ पियो मौज करो— यही मानते थे। वे इस लोक में आराम का जीवन बिताने को ही महत्त्व की बात समझते थे। मरने के बाद क्या होगा कौन जानता है। जब तक जिओ आराम से रहो। ये दो प्रकार के जीवन दर्शन के दो अन्तिम छोर थे। बुद्ध ने इन्हें अन्त कहा है। इन दोनों अन्तों से बचने की सलाह दी है। इसी को मध्यम मार्ग कहते हैं। इसके आठ अंगों की उन्होंने शिक्षा दी थी। इसीलिए इसे आर्य

अष्टांगिक मार्ग भी कहते हैं। बुद्ध ने शाश्वतवादी और उच्छेदवादी दोनों से बचने का मार्ग बताया था। उन्होंने कहा था कि जो कहता है कि आत्मा है वह शाश्वत दृष्टि के पहले अन्त में नियतित होता है और जो कहता है कि आत्मा नहीं है वह उच्छेदवाद के दूसरे अन्त में नियतित होता है। कबीर की तरह उन्होंने भी कहा था—अरे इन दोउन राह न पाई। बुद्ध ने यह नहीं कहा कि मैं जो कहता हूँ उसे मान लो। वे कहते थे वस्तुओं के स्वभाव को समझो। संसार के स्वरूप की जानकारी प्राप्त करो। रोग को जानो रोग के कारण को जानो रोग के कारण के उच्छेद का उपाय करो। खुद सोचो आप अपने मशाल बनो—अत्तदीपो भव।

बुद्धत्व प्राप्त करने के पहले उन्होंने कठिन तपस्या की थी। छः वर्ष तक बोधि वृक्ष के नीचे आसन जमाकर समाधि लगाई थी। दीर्घ चिन्तन और मनन के बाद उन्हें चार आर्य सत्यों का साक्षात्कार हुआ था। उन्होंने जाना था कि—(१) दुख है (२) दुख का कारण भी है (३) उसका निरोध भी है और (४) इस निरोध का उपाय भी है। उन्होंने आत्मा और ब्रह्म के पचड़े में पड़ना ठीक नहीं समझा। यद्यपि उन्होंने आत्मा के नित्य और शाश्वत होने की बात नहीं मानी या कम से कम उसके बेकार के टंटे में पड़ना आवश्यक नहीं समझा, तो भी प्राचीन काल से चले आते हुए वैदिक धर्म की इन दो बातों को मान लिया—एक तो यह कि कर्म विपाक के कारण नामरूपात्मक देह को भंगुर जगप्रपंच में बार-बार जन्म और मरण के चक्कर में पड़ना पड़ता है और(२)यह जो जन्म मरण का चक्कर है वह दुख रूप है। जो इन दो बातों को स्वीकार करता है उसके सामने दो और नये प्रश्न आ जाते हैं। संसार दुख रूप है ठीक है, पर इस दुख का क्या कोई कारण जाना जा सकता है और यदि जान लिया जाए तो क्या उसे दूर करने का कोई उपाय है? बुद्ध ने दोनों प्रश्नों का उत्तर दिया—हाँ, दुख का कारण भी है उसका निरोध भी है और निरोध का उपाय भी है। यही उपाय बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आठ अंगों वाला मध्यम मार्ग है। बहुत विचार के बाद भगवान् ने बताया था कि तृष्णा और कामना सब दुखों का मूल है उसी के कारण प्राणी बार-बार जन्म और मृत्यु के चक्कर में पड़ता है। इस चक्कर से आत्यंतिक निवृत्ति तभी हो सकती है जब तृष्णा का क्षय हो जाये। इंद्रिय निग्रह से ध्यान से वैराग्य से शीलयुक्त आचरण से सब प्राणियों के प्रति अहतुरी मैत्री भावना से इस उद्देश्य की सिद्धि होती है। ब्रह्म और आत्मा की नित्यता या अनित्यता की चर्चा करते रहने से यह उद्देश्य नहीं सिद्ध होता। इसके लिए आवश्यक है संयत जीवन विवेकसहित रहना,

शील का पालन, मत्री का ग्राचरण। बुद्ध ने पवित्र जीवन पर ही ग्रधिक बल दिया।

जो लोग शरीर को नाना प्रकार का कष्ट देकर ही ग्राध्यात्मिक सुख मानते हैं वे वस्तुत शरीर को ही महत्व देते है ग्रौर जो लोग शरीर को सब प्रकार से सजाने सँवारने म ही सुख मानते हैं व भी जड शरीर को ही सब-कुछ मान लेते हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने कहा था कि जो खूब खाता पीता है ग्रौर जो एक दम खाता ही नही—इन दोनो से योग नही सधता। जो खूब मजे की नीद ही लेता रहता है ग्रौर जो एकदम सोना ही नही, सदा जागा ही करता है—योग इन दोनो के भी वश की बात नही। जिसका ग्राहार विहार नियमित है कर्मों का ग्राचरण नपा तुला है, नीद ग्रौर जागरण परिमित है उसी के लिए योग दुख नाशक हो सकता है। ग्रसल मे जब सयमित चित्त ग्रपने ग्रापम ही स्थिर हो जाता है ग्रौर सब कामनाग्रो स निस्पृह हो जाता है तभी ग्रादमी सच्चा योगयुक्त होता है (गीता ६ १६ १८)। यह भी मध्यम माग ही है।

भगवान बुद्ध ने कहा है कि वही सुखी है जो जय-पराजय की भावना का त्याग करता है। जय की भावना स वर उत्पन्न होता है पराजय स दुख उत्पन्न होता है। ग्रत दोनो का परित्याग करके उपशान्त होकर सुख का ग्रासेवन करना चाहिए। राग द्वेष ग्रौर मोह ये तीन ग्रकुशल मूल हैं ग्रथात जहाँ इन तीनो म स कोई भी एक है वहा कुशल नही होता। राग के समान कोई ग्रग्नि नही है द्वेष के समान कोई कलि नही है ग्रौर शान्ति के समान कोई सुख नही है।' ग्रक्रोध के द्वारा क्रोध को साधुता के द्वारा ग्रसाधु भाव को दान क द्वारा कदय को ग्रौर सत्य के द्वारा मृषावाद या झूठ को जीतना चाहिए। मत्रभाव सुत्त म मत्री की महिमा बताते हुए उन्होने कहा है कि जितनी पुण्य की क्रियाए है वे सब मिलकर मत्रीभाव की सोलहवी कला के भी बराबर नही होती। एक प्राणी म भी दुष्ट चित्त नहीं होना चाहिए सबके लिए केवल मत्री की भावना ही होनी चाहिए। जिसका किसी से वैर नही है ग्रौर जो सभी प्राणियो स मत्री करता है वही सुखी होता है। बुद्ध ने इन्द्रिय सयम पर बडा बल दिया है। वे बताते हैं कि जिसके इन्द्रिय-द्वार ग्ररक्षित होते हैं जो भोजन म मात्रा का विचार नही करता उसका चित्त ग्रौर उसका शरीर दोनो दुख पाते है। इस प्रकार उन्होंने बहुत ही उच्चकोटि क महान् जीवन का उपदेश दिया है। उन्होने मन को सयत रखने ग्रौर इन्द्रियो को वश म रखने की सलाह दी है।

इन दिनो लका ब्रह्म देश ग्रादि देशो म जो पालि ग्रथ प्राप्त हुए हैं उनके ग्रनुसार बुद्ध देव का उपदिष्ट माग निवृत्ति प्रधान था। उसम लगता है

कि वे मानते थे कि वद्धत्व की प्राप्ति के लिए संन्यासी होना आवश्यक है। परन्तु मध्यम मार्ग की तर्कसंगत परिणति गृहस्थ धर्म मे ही हो सकती है। अभी पालि भाषा में जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे उनके निर्वाण के बहुत बाद धर्म मर्मानियों में भिक्षुओं द्वारा ही संगृहीत हुए थे। स्वभावतः उन ग्रन्थों में भिक्षु धर्म पर जोर है। परन्तु कभी-कभी परवर्ती ग्रन्थों में इस प्रकार की बातें भी मिल जाती हैं कि गृहस्थ जीवन में निर्वाण प्राप्त करना एकदम असम्भव नहीं है। नागसेन से मिलिन्द (मीनाण्डर) ने कुछ प्रश्न किये थे और नागसेन ने उनका उत्तर दिया था। यह प्रश्नोत्तर मिलिन्द पञ्हो (मिलिन्द प्रश्न) नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है। इस ग्रन्थ में (६ २ ४) एक स्थान पर नागसेन ने मीनाण्डर को बताया है कि गृहस्थाश्रम में रहते हुए निर्वाण पा लेना बिलकुल अशक्य नहीं है और उसके कितने ही उदाहरण भी मिलते हैं। नागसेन ने बुद्ध के किस उपदेश के आधार पर यह बात कही यह बताना कठिन है। अनुमान किया जा सकता है कि उनके पास इस प्रकार का उपदेश देनेवाला कोई बुद्ध वचन रहा होगा और इन दिनों उपलब्ध पालि ग्रन्थों में संगृहीत नहीं हो सका है। जो हो, यह केवल अनुमान की बात है। आजकल के कुछ बौद्ध शास्त्रों के पण्डित इस प्रकार की कई बातों के पुराने बुद्ध उपदेशों में होने की कल्पना करते हैं जो पालि त्रिपिटक मे नहीं मिलती।

आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले बुद्ध देव ने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया था। उन्होंने कायाक्लेश वाली तपश्चर्या और भोगमय जीवन दोनों के त्याग का उपदेश दिया और संयमित जीवन अहिंसा मैत्रीभावना और शील युक्त आचरण पर बल दिया। वे तृष्णा को सब दुःखों का हेतु बताते थे। उनका उपदेश आगे चलकर बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ और कम-से कम आधी दुनिया उसके प्रभाव में आ गई। आज वैशाखी पूर्णिमा के दिन हम इस महामानव का स्मरण करते हैं और उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

स्वागत

आप अनेक महान देशों से यहाँ पधारे हैं। आपका देशों का इतिहास विशाल और महान है। आप विद्या और धन दोनों में निष्णात हैं। इस निराला की इस पुण्यभूमि में आपका स्वागत करने में मुझे बड़ा आनन्द और उल्लास अनुभव हो रहा है। मैं नहीं जानता कि क्या कहकर मैं अपना आनन्द प्रकट करूँ। मैं आप सभी मनीषियों को शिरसा प्रणाम करता हूँ।

मुझे यह सोचकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपके देशों की संस्कृतियाँ और इतिहास हमारे इस देश की संस्कृति और इतिहास की भाँति ही बहुत समृद्ध हैं। फिर भी हममें एक बड़ी भारी एकता भी है। हम जैसे एक ही उद्यान के बहुविचित्र पुष्प हैं जिनमें रूप, वर्ण, गन्ध की मोहकता अलग अलग और विशिष्ट होने पर भी एक ही धरती की उर्वरा शक्ति की देन है। यह सांस्कृतिक समारोह उसी उर्वरा शक्ति को स्मरण कराता है।

आप मेरी हार्दिक प्रणति स्वीकार करें। आपने दूर-दूर से पधारकर हमारे ऊपर जो कृपा की है उसके लिए आभार प्रकट करने के लिए शब्द मेरे पास नहीं हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि आपके आगमन से हमारे सहस्रों वर्ष पुराने सम्बन्ध में नई चेतना की धारा प्रवाहित होगी। प्राच्य संस्कृति परिषद की इस चतुर्थ गोष्ठी में सम्मिलित होने और इसका शुभारम्भ करने का आपने जो अवसर दिया है उसके लिए भी मैं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं विशेष रूप से भाई श्री कमलापति जी त्रिपाठी का अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने इस गोष्ठी में सम्मिलित करके मेरा मान बढ़ाया है। मैं शान्तिनिकेतन में कोई बीस वर्ष रहा और वहाँ पूर्वी और दक्षिणी एशिया के अनेक विद्वानों और विद्यार्थियों के सम्पर्क में आया। आप सभी जानते हैं कि मेरे गुरुदेव कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने

कितनी लगन और निष्ठा के साथ श्रीलंका, बर्मा थाइलैण्ड, इण्डोनेशिया (जावा सुमात्रा वाली), चीन फारमोसा जापान नेपाल, तिब्बत, मध्य एशिया आदि देशों में जाकर वहाँ की जनता के साथ अपने देश के पुराने सांस्कृतिक संबंधों को पुनर्जीवित किया था। उनके प्रेमपूर्ण व्यक्तित्व के आकर्षण से इन देशों के सैकड़ों विद्वान और विद्यार्थी शांतिनिकेतन आए और पुराने संबंधों की सुखद स्मृतियों को नई प्राणशक्ति से उद्बुद्ध किया। मेरा परिचय उन देशों से इसी प्रकार हुआ और मुझे लगा कि हमारे देशों की संस्कृति कितनी दृढ़ भित्ति पर स्थापित है। इस सांस्कृतिक एकता को सबसे बड़ा आधार बौद्ध धर्म ने दिया है। भगवान् बुद्ध के प्रेम करुणा मैत्री और भ्रातृभाव के सन्देश ने इन महान राष्ट्रों को प्रेरणा दी है। सबसे पहले मैं प्रेरणा के महान स्रोत भगवान् बुद्धदेव को ही अपना प्रणाम निवेदन करना चाहता हूँ। उनकी महिमामयी वाणी ने ही हम सबको हजार वर्ष से एकता और मैत्री के सूत्र में बाँधा है। यह और भी संकेतपूर्ण है कि उसका अधिवेशन उस स्थान पर हो रहा है जहाँ से उनका प्रथम प्रेम मंत्र प्रचारित हुआ था। हजारों वर्षों से वह प्रेम वाणी यहाँ के आकाश में गूँज रही थी। बीच में हम अपने को भूल गए, अपनी सांस्कृतिक महिमा को भूल गए, अपने इतिहास को भूल गए और इसिपत्तन (सारनाथ) का यह पवित्र स्थान खण्डहरों में बदल गया। दीर्घ विस्मरण के बाद उस पवित्र वाणी को नये सिरे से श्रीलंका के भदन्त अनगारिक धर्मपाल ने सुना और उनके सतत प्रयत्नों से सारनाथ फिर से नये जीवन को लेकर अतीत के महान सन्देश को सुनाने में समर्थ हुआ। इस अवसर पर मैं अपना प्रणाम उस महान् धर्मवीर को निवेदन करना चाहता हूँ।

इस युग में जबकि हमारे सभी देश आंशिक रूप से या पूर्ण रूप से यूरोपीय राष्ट्रों के द्वारा अभिभूत कर लिए गए हम अलग हो गए। जिन्हें विधाता ने सबसे निकट रहने का विधान किया है जो प्राकृतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पूर्णतः एक बने हैं, वे एक दूसरे से अपरिचित हो गए। विदेशी शासन और प्रभाव ने हमें एक दूसरे से दूर और विखंडित कर दिया। उस समय में जिस महामनीषी ने अपनों को फिर से एक करने की दिशा में सबसे अधिक प्रेरणा दी वे हैं कवि वर रवीन्द्रनाथ ठाकुर। यदि किसी एक व्यक्ति ने इस चिर परिचित परन्तु फिर भी विस्मृत और दूर पड़ गए देशों की एकता को फिर से दृढ़ प्रतिष्ठा दी तो वे सन्तमहर्षि कविगुरु रवीन्द्रनाथ हैं। मैं उन्हें अपना प्रणाम निवेदन करता हूँ। इस अवसर पर यदि हम उन पश्चिमी और पूर्वी विद्वानों को भूल जाएं जिन्होंने बड़ी निष्ठा और सावधानी से हमारे पुराने गौरव और सांस्कृतिक संबंधों को

उजागर किया है तो बड़ी कृतघ्नता होगी। मैं उन सभी विद्वानों को प्रणाम करता हूँ।

बुद्धदेव और महान् बौद्ध धर्म ने हमारे देशों के बीच सांस्कृतिक सेतु का निर्माण किया है पर उसके साथ ही रामायण और महाभारत ने उसे सुदृढ़ किया है और रसमय बनाया है। संस्कृति क्या है मनुष्य का जो कुछ उत्तम है धर्म में आचरण में भावना में सौंदर्यबोध में उसका पूर्ण रूप ही संस्कृति है। यह हमारे साहित्य में धर्माचरण में नैतिक व्यवहारों में मूर्ति में चित्र में वास्तु में नृत्य में अभिनय में गान में काव्य में मूर्त होती है। रामायण महाभारत जातक कथाएँ और अन्य धार्मिक ग्रन्थों ने भारतवर्ष को रचनात्मक प्रेरणा दी है और हमारे पड़ोसी देशों को भी। भारतवर्ष के समूचे साहित्य और कला के मूल में इन्हीं कुछ ग्रन्थों की प्रेरणा रही है और कैसा विचित्र संयोग है कि हमारे पड़ोसी देशों को भी इन महान रचनाओं ने प्रेरित किया है। इस सांस्कृतिक गोष्ठी में हम इस महान साहित्य को भूल नहीं सकते। काल की उथल पुथल को रौंदकर राजनीतिक बवंडरों की अवहेलना कर आक्रमणों और युद्धों को कुचलकर दो महान ग्रन्थ आज भी संसार की दो तिहाई जनता के जीवन को जीने योग्य बनाए हुए हैं। इन सभी देशों के लगभग समस्त रचनात्मक प्रयासों के पीछे इनका हाथ रहा है। इस अवसर पर हम उन महान साहित्यकारों को कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं जिन्होंने आज भी हमें एक सूत्र में बाँध रखा है।

हम दीर्घ काल बाद यूरोपियन राजनीति की सर्वग्रासी शक्ति को काटकर फिर मिलने के लिए एकत्र हुए हैं। हमारे स्वर्गीय नेता पं० जवाहरलाल नेहरू की हार्दिक अभिलाषा थी कि हम फिर से एक दूसरे के अधिक निकट आएँ। हमारे और आपके देशों के अनेक सम्बन्ध परस्पर हितों के आधार पर स्थापित हैं और होंगे पर जो बात हमको अन्य देशों के परस्पर मिलन से भिन्न करती है वह है यह प्राचीन काल से चला आता हुआ सांस्कृतिक सम्बन्ध। यह हमें मित्रों से अधिक भाई बनाता है। हम अलग राष्ट्र हैं हमारा अलग राष्ट्रीय व्यक्तित्व है परन्तु हमारी जनता की नाड़ी में एक ही प्रकार का सांस्कृतिक रक्त बह रहा है। इस प्रकार के सांस्कृतिक आयोजन हमारे सम्बन्धों का पुनर्जागरण करेंगे।

मैं इस कार्य के लिए कुछ ठोस कार्य करने की आवश्यकता अनुभव करता हूँ। नियति विधाता ने कुछ ऐसा विधान बनाया है कि हम एक-दूसरे को जाने बिना अपूर्ण और अधूरे रह जाएँगे। हमारे सभी देशों की धर्म साधना चित्रकला

मूर्तिकला नृत्य, नाट्य साहित्य और इतिहास का गम्भीर अध्ययन होना चाहिए। इसके लिए हमें कुछ ठोस कदम उठाना चाहिए। हमें कम-से-कम सौ जिल्दों की एक योजना बनानी चाहिए जिसमें हमारे इन सभी देशों के सांस्कृतिक मूल उपादानों का गंभीर अध्ययन हो। गंभीर अध्ययन से मेरा मतलब यह है कि वह केवल भावुकतापूर्ण न होकर आधुनिकतम शोध पद्धतियों पर आधारित अध्ययन होना चाहिए। जैसा कि आप सभी जानते हैं हमारे सम्बन्ध इतने प्राचीन और व्यापक हैं कि उनके स्मरण मात्र से भावुक हो जाना बहुत आसान है। पर हमें इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में अविकृत सत्य और उसे यथासंभव अनासक्त ज्ञान के रूप में देखना चाहिए। इस दिशा में हमें यूरोपियन पंडितों की प्रशंसा करनी चाहिए। उन्होंने बहुत कुछ मार्गदर्शन पहले से ही कर रखा है।

हम अपने प्राचीन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को बहुत कम जानते हैं। जो कुछ जानते हैं वह अधूरे ज्ञान के आधार पर अधूरे विश्वास के साथ लिया गया है। इस समय हमें अधिक सावधानी के साथ इस काम को करना होगा। इसके लिए विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों और अन्य सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों में अधिक-से-अधिक छात्रों और विद्वानों के आवागमन की व्यवस्था करनी होगी। उन सब उपायों का अवलम्बन करना होगा जिससे हम एक-दूसरे के अधिक से अधिक निकट आ सकें।

मित्रो, एक बार पुनः आपको अपनी प्रणति निवेदन कर इस अधिवेशन के शुभारम्भ की घोषणा करता हूँ।[1]

---

१ प्राच्य संस्कृति परिषद् (चतुर्थ अधिवेशन) सारनाथ में सभापति पद से दिया गया भाषण।

पूर्वी एशिया के तीर्थयात्रियो का स्वागत

हम इस पुरानी नगरी म एशिया के नाना देशा स आए हुए आध्यात्मिक सदेश वाहक मित्रा का स्वागत करत है। स्वागत करते समय हमारा मन अपार हर्ष से भरा हुआ है किन्तु उद्वग भी कम नही है। क्या लकर आपकी अभ्यर्थना करें किन उपचारो से आपकी पूजा करें ? हमारी यह नगरी ससार की उन थोडी सी महिमामयी नगरियों मे है जि होने विजयवाहिनी क जय निर्घोष स अपना गौरव नही बनाया बल्कि आध्यात्मिक शान्ति की ललित वाणी से अपनी सत्ता बचा रखी है। ससार म इस श्रेणी की नगरिया बहुत कम है । और शायद हमारी यह नगरी काशी उन सबम पुरानी है। वह आज भी जी रही है। आज भी उसका दावा है कि वह शिव के त्रिशूल म ऊपरली नोक पर जडी हुई है—जगत प्रपच स थोडा उपर और अपना भारसाम्य अपने आपम ही सभाले हुए ही क्योंकि यदि वह अपना भारसाम्य स्वय न बनाये रखे तो त्रिशूल की नोक पर टिक नही सकेगी। यही शिक्षा और सस्कृति महापीठ का आदर्श रहा है। इसी आदर्श की रक्षा करती हुई हमारी यह नगरी युग युग स अपनी शक्तिभर अध्यात्म तत्त्व का सदेश दे रही है। जब शक्तिशाली सम्राटो का विजयवाहिनियो के उन्मत्त ताण्डव से राजमार्ग रक्तपिच्छिल बनत रहे है शस्य भूमियाँ भस्म म परिणत होती रही हैं निरीह जनता त्राहि त्राहि पुकारती रही है तब भी काशी ने ऋषियो मुनियो सतो आचार्यों के मुख से निरन्तर धर्म का ही सदेश दिया है। जब जब दुनिया का उन्माद कम हुआ है जब उसका नशा उतरा है उसने इस पुरी के महापुरुषो की वाणी सुनी है—यही पूवजा क गौरव म गरियान महिमा की स्मृति हम साहस दे रही है कि हम आपका स्वागत कर। आप जसे सस्कृति सम्पन्न महापुरुषो का सत्सग हम केवल पूवजा क पुण्य बल से ही प्राप्त हुआ है।

अपने सौभाग्य पर हम गव है पर अपनी अकिंचनता मे हम खेद हा रहा है। आप जसे महान अथितिया का स्वागत जिस ऊँचे आध्यात्मिक धरातल पर होना चाहिए उम पर अपने को न देखकर मन म क्षोभ अवश्य होता है फिर भी हमन यह अ शा नहा छोडी है कि समार यदि सचमुच ही मनुष्यत्व के ऊँचे आमन की तरफ बढ़ना चाहता है तो वह उस आध्यात्मिक सदेश को सुनने को अवश्य वाध्य होगा जिम हमारे पूवजों ने अपनी वाणिया म व्यक्त किया है और जिसके प्रचार के लिए आप जसे ज्ञानी गुणी, सत-जन इतना परिश्रम कर रहे हैं।

आज बडा दुघट काल उपस्थित है। ससार म व्यक्तिया वर्गों और राष्ट्रा के स्वाथ ने एसी दारुण अवस्था की सष्टि की है कि शान्ति का नाम लेना भी हास्यास्पद जान पडता है। मानवी प्रयत्ना के समुद्र म भयकर मथन हो रहा है। पता नहीं इसमे कितने रत्न निकलेंगे कितना हिंसा विप का होगा और कितना अमत का। परन्तु अभी तो एसा लगता है कि स्वार्थों का दानव नाना छला से मनुष्यत्व क अमत को विशेष भाव स पी ही जाएगा। मेरे गुरु कविवर रवीन्द्रनाथ टाकुर ने जिन्होने जीवन भर शान्ति और मगल की वाणी का प्रचार किया था मत्यु के कुछ पूव अत्यन्त व्यथित शब्दा म कहा था—नागिनिया चारा और विपाक्त निश्वास फेंक रही हैं। ऐस समय शान्ति की ललित वाणी व्यथ के परिहास की भाति सुनाई देगी विदाइ लने समय इसलिए उन लोगा को एक बार पुकार जाता हूँ जो घर घर दानव के साथ लडने की तयारी कर रहे हैं। इस वाणी म कवि की बचेनी साकार हो उठी है। मैं समझता हूँ इस व्यथा को लेकर ही आपने भी हिंसा और स्वाथ क दानव से जुझने का सकल्प किया है। सकल्प—शुभसकल्प—का शक्ति अपार होती है जिस यह सकल्प मिल जाता है उस पर भगवान की कृपा होती है और वह जगत का उपकार कर जाता है। चारा ओर क घनीभूत अधकार म यह बात क्षण भर क लिए प्रकाश दे जाती है और थोडा भी प्रकाश वस्तुस्थिति का उसके यथाथ रूप म प्रस्तुत करने म समथ होता है। बोधिचर्या अवतार म शान्तिदेव ने कहा है कि जिस प्रकार मेघाच्छन्न घोर अधकारपूण रात्रि म विद्युत क्षणभर के लिए प्रकाश विकीण कर जाती है उसी प्रकार कभी-कभी बुद्धि की कृपा से मनुष्य को प्रकाश मिल जाता है और सच्चा रास्ता दीख जाता है

रात्रौ यथा मेघ घनान्धकारे
विद्युत क्षण दर्शयति प्रभात्म।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचित
लोकस्य पुण्येषु मति क्षण स्यात ।।

को संकल्प नहीं होना चाहिए। बुद्धि और बोधिसत्वों ने जो अपूर्व मैत्री भावना बनाई है उस रास्ते पर हमें दृढ़ता के साथ बढ़ते रहना चाहिए। संसार की सबसे बड़ी समस्या है स्वार्थ का लोभ। जहाँ यह लोभ व्यक्ति में स्वार्थ का आश्रय करता है वहीं राष्ट्र में स्वार्थ को आश्रय करता। आज कोई नहीं सोचता कि मुझे सुख न मिलकर दूसरों को सुख मिले, मेरी मुक्ति से दूसरों को मुक्ति मिले, मेरे पुण्यों से दूसरों का उद्धार हो, मेरी तपश्चर्या से दूसरों का भला हो। पहले स्वार्थ बाद में और कुछ—यही आज की सभ्यता का मूल मंत्र है। स्वार्थ भी कई हैं—व्यक्तिगत, वर्गगत और राष्ट्रगत। इन स्वार्थों के संघर्ष में संसार पिस रहा है, मनुष्यता हनी जा रही है— नागिनियाँ विषाक्त विश्वास से वातावरण को क्षुब्ध कर रही हैं। ऐसे समय क्या गति है? शायद बोधिसत्वों का पुण्य संकल्प आज हँसकर उड़ा दिया जाए पर उनके शुभ संकल्प से बढ़कर हमारे पास रह क्या गया है। मैं जब कभी उस महान संकल्प की बात सोचता हूँ तो लगता है, इस पर दृढ़ता से जमे रहने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं है— नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। कितना महान संकल्प है—

बोधिसत्त्व की मैत्री-भावना

(१)

'ये ताडिता बन्धनबद्धपीडिता
विविधेषु व्यसनेषु च संस्थिता हि।
अनेकआयाससहस्रआकुला
विविधभयदारुणशोकप्राप्ता ॥
ते सर्वि मुच्यन्त्विह बन्धनेभ्य
संताडिता मुच्यिषु ताडनेभ्य।
वध्याश्च संयुज्यिषु जीवितेन
व्यसनागता निर्भय भोन्तु सर्वे ॥

(२)

ये सत्त्वक्षुत्तर्षपिपासपीडिता
लभन्तु ते भोजनपान चित्रम्।
अन्धाश्च पश्यन्तु विचित्ररूपान्
बधिराश्च शृण्वन्तु मनोज्ञघोषान्।

नग्नाश्च वस्त्राणि लभन्तु चित्रा
दरिद्रसत्त्वाश्च निधि लभन्तु।
प्रभूतधनधान्यविचित्ररत्न
सर्वे च सत्वा सुखिनो भवन्तु।
मा कस्यचिद भावतु दु:खवेदना
सौख्यान्विता सत्त्व भवन्तु सर्वे।
विवजयन्तु खलु पापकम
चरन्तु कुशलानि शुभक्रियाणि'॥

(१)

इस दु:खमय नरलोक मे—
जितने मलिन बन्धन-ग्रसित पीड़ित विपत्ति विलीन हैं,
जितने कि वसुधधी विवेक विहीन हैं
जो कठिन भय से और दारुण शोक से अति दीन हैं
वे मुक्त हो निज बन्ध से स्वच्छन्द हो सब द्वद्व से,
छूटें दलन के फन्द से।
जीवन्त हो वे जो कि होने जा रहे—
बलि कुटिल भ्रूकुंचित किसी के क्रोध से।
आश्वस्त हो व जो कि हो भयभीत—
विषम विपत्ति के आक्रमण म —
सबका परम कल्याण हो!

(२)

जो पट पकड़े सो रहे हैं,
प्यास से जो रो रहे हैं,
(धय अपना खो रहे हैं)
हाय ऐसा हो कि व—
पावें मधुर भोज्यान्न शीतल वारि—
सारे दु:ख भागें दूर।
पावें नेत्र नयन विहीन
जो हैं श्रवण-सुख के दीन
मृदुल मृदंग मोहक वीन का आनन्द उनको मिले।
जो हैं ललकते चिथड़े लपेट रहे नंगे डोल
वे पावें वसन अनमोल

जो हैं वित्तहीन दरिद्र, व पावें अगार निपात
पावें दूध दधि धन धान
पावें रत्न-मनि-संधान—
सबका हो परम कल्याण !
हो ऐसा कि जग में दुख से विकल न कोई
अन्नहीन दिख न कोई, पापकर्म कर न कोई
अनमाग धरे न कोई
हो सभी सुशील पुण्याचार धर्मव्रती—
सबका हो परम कल्याण !
सबका हो परम कल्याण !!

अपने आप तक ही सुख की सीमा नहीं है। सब जब तक सुखी न हो जायें तब तक सुख कहाँ ! इसी महान मंगल संकल्प की इस समय आवश्यकता है। आप इसी महाप्रेम को ससार में व्याप्त करने के उद्देश्य से कार्य कर रहे हैं। महासत्त्व हम हृदय से आपका स्वागत करते हैं।

एक विदेशी लेखक ने एक बार हमारे देशवासियों की एक बात पर आश्चर्य प्रकट किया था उन्हें हमारी यह आदत बुरी भी लगी थी। उन्होंने कहा था कि भारतवर्ष के रहने वाले कुछ ऐसे खराब आदमी हैं कि उनकी भाषा में धन्यवाद का कोई शब्द नहीं है। हम लोगों ने नई सभ्यता के सपर्क में आकर अब एक शब्द बना लिया है—धन्यवाद। पर पहले हमारी भाषा में यह शब्द नहीं था। विदेशी लेखक को हमारी यह आदत बुरी लगी थी और उन्होंने इस बात को लिख दिया है। उन्होंने ठीक ही लिखा था। हम किसी के प्रति कृतज्ञ होते हैं तो हमारी वाणी रुद्ध हो जाती है। हमारे मुह से शिष्टाचार का कोई शब्द नहीं निकलता। यह पुराना दोष है। आप इसे गलत न समझें। यदि हमारे मुह से इस समय शिष्टाचार के वचन न निकलें तो निश्चित समझें कि यह हमारी हार्दिक भावना के आवेग के कारण ही हुआ है। आप सहृदय हैं। आप दूसरों के हृदय में प्रवेश करने की क्षमता रखते हैं आप हमारे हृदय की भाषा को सुन सकेंगे ऐसी हमारी आशा है।

पुराने ऋषि ने ससार के मनुष्यों को पुकारकर कहा था तुम्हारे संकल्प समान हों हृदय एक हो मन अभिन्न हो और तुम्हारा मिलन शोभन सुन्दर हो—

समानी व आकूति समाना हृदयानि व
समानमस्तु वो मनो यथाव सुसमासहि।

इस शुभ आशीर्वाद को आज आपका आगमन चरितार्थ करे। आपके शुभागमन से हम अपने को कृतकृत्य समझ रहे हैं हमारा हृदय आनन्द विह्वल है। हमारा पुराना अनुभव है कि महान अतिथियो का आना महान निमित्त का सूचक है। आपका शुभागमन जगत का कल्याणकारक हो—

राप शान्ति
ओ पृथिवी शान्तिर न्तरिक्ष शान्तिरोषधय शान्ति
विश्वे मे देवा शान्ति शान्ति तामि शान्ति
मि शमयामोऽह यदिहक्रूर यदित घोर यदिह पाप तच्छान्त

भारतीय लोकतंत्र और संस्कृति
लोकतंत्र और भाषा

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हमने अपने देश में लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था को स्वीकार किया है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का अर्थ यह होता है कि हमारे देश की जनता के चुने हुए लोग देश में कानून और व्यवस्था का संचालन करें। यह शासन-व्यवस्था जनता के द्वारा स्थापित होती है और जनता के हित के लिए काम करती है। हमारे देशवासियों की प्रकृति के अनुसार और उसके ऐतिहासिक विकास को दृष्टि में रखते हुए ऐसे नियम बनाने पड़ते हैं जो ठीक उसी प्रकार बने हुए अन्य देशों के नियमों से कुछ भिन्न होते हैं। हमारे देश का इतिहास हज़ारों वर्ष पुराना है। इसमें विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, नस्लों और जातियों के लोग बसते हैं। उनकी अपनी परम्पराएँ भी कुछ अलग अलग हैं। इस प्रकार हमारे राष्ट्र में विविधताएं और वैचित्र्य है। अलग अलग समुदाय के धार्मिक विश्वास, पूजा-पद्धति, भाषा आदि में भी अंतर दिखाई देता है। ऐसी स्थिति में एक सामान्य राष्ट्रीय हित का मार्ग खोजना कठिन हो जाता है। हमारे लोकतंत्र ने इसी कठिन मार्ग को अपनाया है। इसके लिए हमारी संविधान सभा ने धर्म निरपेक्ष लोकतांत्रिक व्यवस्था का मार्ग निकाला है। इसका अर्थ यह है कि हम यह संकल्प कर चुके हैं कि किसी समुदाय विशेष के धार्मिक विश्वासों में राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। सबको अपने अपने मार्ग पर चलने की स्वतंत्रता होगी। राज्य किसी एक धर्म को मान्यता नहीं देगा और सभी धर्मों के उन महान आदर्शों को अपनाया करेगा जो मानवता के पोषक और उन्नायक हैं। यह मार्ग कठिन है। इसमें सहनशीलता, उदारता और धैर्य के साथ सभी काम करना ज़रूरी है। पर कठिन होने पर भी यही मार्ग मनुष्यता का सही मार्ग है।

इसमे भाषा सम्बन्धी समस्या कुछ अधिक जटिल है। हमारे देश के संविधान मे बहुत विचार के बाद चौदह मुख्य भाषाओ को मान्यता दी गई है। इनमे एक संस्कृत भी है। संस्कृत हमारे देश की बडी शक्तिशाली और समृद्ध भाषा रही है। हमारे हजारो वर्षों के इतिहास मे पीढ़ियो तक देश के सर्वोत्तम विचारको ने इस भाषा मे अपने विचार लिपिबद्ध कर रखे हैं। इसलिए संस्कृत को देश की मुख्य भाषाओ मे स्थान देना उचित ही हुआ है। बाकी तेरह भाषाए देश के विभिन्न भागो मे बोली जाती हैं। ये सभी भाषाएँ हमारे राष्ट्र की सम्पत्ति है। इसलिए इन सबकी समृद्धि से ही समूचे राष्ट्र की समृद्धि सम्भव है।

भाषा की समृद्धि उत्तम साहित्य से होती है। भाषा की समृद्धि से उसके बोलने वालो का जीवन स्तर ऊँचा उठता है उनमे कार्य-कारण परम्परा को सही-सही समझने की शक्ति विकसित होती है और उनके चरित्र मे नैतिक निष्ठा का विकास होता है। राष्ट्र के सामूहिक सांस्कृतिक स्तर को ऊँचा उठाने का यह सर्वोत्तम उपाय है।

जो सरकार जनता के द्वारा चुनी जाती है उसमे जनता की भाषा का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। परन्तु पिछले डेढ-दो सौ वर्षों मे हम एक पराधीन राष्ट्र के रूप मे जीते रहे हैं। अंग्रेजो ने इस देश की शासन व्यवस्था के लिए अंग्रेजी भाषा को सारे देश मे प्रचलित किया था और हमारी अपनी भाषाओ का विकास रुद्ध हो गया था। अंग्रेजी भाषा द्वारा शासन व्यवस्था चलाने का परिणाम यह हुआ है कि हमारे देशवासियों को जो भिन्न भिन्न भाषाए बोलते हैं एक सूत्र मे बाँधने का काम अंग्रेजी ही करने लगी है हालांकि विदेशी भाषा होने के कारण वह देश की विशाल जनता मे ठीक से रोज पीज नही सकी है। यही कारण है कि देश को एक सूत्र मे बाँधने मे वह कमजोर सिद्ध हुई है।

अंग्रेजी भाषा बहुत समृद्ध भाषा है और आजकल संसार के कई समृद्ध देशो मे राजभाषा के रूप मे स्वीकृत है। पर है यह विदेशी भाषा ही और देश की समूची जनता का एक नगण्य अंश ही उसमे कुशलता प्राप्त कर सका है। जनता का राज्य होने पर सारी जनता यदि अपनी भाषा मे शासन-तंत्र और न्याय व्यवस्था को चलाने का अधिकार नही प्राप्त करती तो लोकतांत्रिक व्यवस्था निश्चित रूप से कमजोर हो जाती है। संविधान बनाने वाले नेताओ के मन मे यह प्रश्न बहुत प्रमुख रूप मे उपस्थित था। इसको हल करने के लिए उन्होंने अपने देश की एक भाषा को चुना है जो विभिन्न राज्यो के आपसी

व्यवहार की भाषा बहुत कुछ पहले से ही बनी हुई है। यह भाषा हिन्दी है। देश की लगभग आधी जनता इस भाषा को बोल या समझ लेती है। इसलिए ऐसा निश्चय किया गया है कि विभिन्न राज्यों में तो अपनी अपनी भाषाएं शासन व्यवस्था के लिए काम में लाई जायें परन्तु सारे देश के लिए और राज्यों के पारस्परिक संबंध के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग किया जाए। ऐसा करने से ही देश में हर अर्थ में लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था कायम होगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में भाषाओं की प्रगति में काफी तेजी आई है। कई राज्यों ने अपने राज काज के लिए अपने क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा को स्थान दिया है और विश्वविद्यालयों में भी तेजी से देशी भाषाएं माध्यम के रूप में व्यवहृत होने लगी हैं। परन्तु अंग्रेजी अभी बनी हुई है। उसे एकदम हटा देने में भी कठिनाई है। धीरे धीरे देशी भाषाएं अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त करती जा रही हैं और हिन्दी के प्रचार का भी थोड़ा-बहुत प्रयत्न हो रहा है। जब तक हमारी अपनी भाषाएँ समृद्ध नहीं हो जातीं तब तक लोकतान्त्रिक व्यवस्था कमजोर ही बनी रहेगी।

भारतवर्ष में अपनी समृद्ध संस्कृति को उजागर करने के लिए देशी भाषाओं को प्रोत्साहन देना बहुत जरूरी है। विदेशी भाषा में शिक्षा पाने से हमारा स्वतंत्र चिंतन कुंठित हो गया है। समूचे राष्ट्र के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए भी हम अपनी भाषाओं को समृद्ध करना आवश्यक है।

यह प्रसन्नता की बात है कि स्वाधीनता प्राप्ति के बाद बहुत सी बाधाओं और कठिनाइयों के होते हुए भी प्रादेशिक भाषाएँ उन्नति कर रही हैं। हिन्दी भी सार्वदेशिक भाषा के रूप को अवश्य प्राप्त कर जाती है। इसमें अनेक विश्वविद्यालयों में एम० ए० तक की पढ़ाई हिन्दी में होने लगी है लेकिन अभी बहुत प्रयत्न की आवश्यकता है। जब तक आधुनिक ज्ञान विज्ञान के हर क्षेत्र में उत्तम साहित्य का निर्माण नहीं होता तब तक भाषा संबंधी परमुखापेक्षिता बनी रहेगी। आशा की जाती है कि शीघ्र ही हमारी देशी भाषाएं इस प्रकार के साहित्य से समृद्ध हो जायेंगी और हिन्दी तो विशेष रूप से समृद्ध हो जाएगी।

स्वराज्य तभी सार्थक होगा जब स्वभाषा की उन्नति होगी। जिस भाषा के माध्यम से साधारण जनता तक ज्ञान विज्ञान पहुंच सकता है उसकी उपेक्षा करना बड़ा हानिप्रद होगा।

महात्मा गांधी ने आज से पचास साल पहले कहा था— मैं अपनी अल्प बुद्धि के अनुसार इस बात से सहमत हूं कि इस देश में बड़े बड़े विज्ञान सह

मानते हैं कि अन्तप्रान्तीय उपयोग के योग्य भाषा तो अंग्रेजी भाषा ही है। लेकिन वह भाषा कदापि राष्ट्रभाषा नहीं हुई है, क्योंकि उसमें और हिन्दी भाषा में किसी प्रकार की भी समानता नहीं है। राष्ट्रभाषा ऐसी सहल होनी चाहिए कि जिसे कोई भी सीख सके। यदि हम पराधीनता से ग्रस्त न हो तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि ऐसी सामान्य भाषा की आवश्यकता है। अंग्रेजी सीखने के पीछे लाखों रुपया खर्च करने के बावजूद गिने चुने लोग ही इस भाषा को सीख सके हैं और ऐसा होने पर भी उस भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाले लोग तो इक्के-दुक्के ही होते हैं। इस भाषा को सीखने के लिए जो प्रयत्न करना पड़ता है उसे देखता हूँ तो मुझे तो ऐसी प्रतीति होती है कि उसमें देश का तेज क्षीण होता जा रहा है।'

प्रसन्नता की बात है कि अपनी भाषाएँ अब सजग हो गई हैं। यदि वे समृद्ध हों तो देश का तेज भी शक्तिशाली होगा।

सस्कृत की कवि-प्रसिद्धियाँ

ग्राज सस्कृत साहित्य म प्रयुक्त कवि प्रसिद्धिया की चर्चा करनी है। कवि प्रसिद्धिया कवियो की दुनिया की सचाई हैं। सा ारण जगत म लोग उनकी यथाथता म विश्वास नही करते। परम्परा स चली ग्राती हुई प्रसिद्धिया को कवि स्वीकार कर लेता है ग्रौर उसको सत्य मानकर ग्रपना कारबार शुरु कर देता है। चन्दन म फूल होत है लेकिन कवि प्रसिद्धि है कि नही होत। च दन के बगीचे म रहनेवाला चाह जो भी कहता हो कवि इस बात को सच मानकर ग्रपना मतलब साध लगा। किसी सहृदय विद्वान की निधनता पर ग्रौर गुणज्ञ राजा की मत्यु पर उस क्षोभ है वह ब्रह्मा की ग्रकलमदी पर तरस खाना चाहता है। ब्रह्मा की बुद्धिहीनता क द चार ग्रौर उदाहरण उस सग्रह करन ह। वह कह उठता है -सोन म गध नही दी इख के डडे म फल नही दिया चन्दन के वक्ष म फूल नही दिया, विद्वान को धनी नही बनाया ग्रौर गुणज्ञ राजा को दीर्घायु नही किया। जान पडता है कि विधाता को पहले कोई बुद्धिदाता गुरु नहा मिला था।

> ग ध सुवण फलमिक्षु दड
> नाकारि पुष्प खलु च दनस्य।
> विद्वान धनी नपति दीघजीवी
> नासीत पुरा बुद्धिदाता विधातु ।।

इस प्रकार चदन म फूल न ग्रान वाली कवि प्रसिद्धि के सहारे वह ग्रपन वक्तव्य को रसयुक्त ग्रौर ग्रास्वाद्य बना देता है।

ग्राजकल चत्र का महीना है। पेडो म पुष्प लगे हुए है। ऐसा जान पडता है कि किसी ग्रज्ञात पुलकोत्कम्प के कारण धरित्री रामाच कटकित हो

रही है। वसंत में ऐसा होता ही है। बच्चा बच्चा जानता है कि इस ऋतु में अशोक कंधे में ही फूट उठता है, बकुल या मौलसिरी का पेड़ अपने छोटे मनोहर पुष्पों के भार से नख से शिख तक लद जाता है। कुरवक या कटसरैया के जंगल में धरती की निर्दोष रंगीनी फूट पड़ती है और तिलक पुष्पों के बहाने वह मनोहर तिलक बिंदुओं से अपने आपको सजा लेती है। यह कोई नई बात नहीं है। अनादि काल से ऐसा ही होता आया है। जब जब वसन्त ऋतु आती है तब-तब पृथ्वी के हर कोने में उल्लास की लहरें दौड़ पड़ती हैं। यह सारा दृश्य अपने आप में ही मादक है, परन्तु संस्कृत का कवि किसी बात को यों ही सीधे सीधे कहना पसन्द नहीं करता। वह अस्पष्ट भावोच्छ्वासों को महत्त्व नहीं देता। वह कविता ही क्या जो चित्त में भावों की मन्दिर तरंगें न लहरा देती हो, जो पद झंकार मात्र से पाठक के चित्त को मथित और व्याकुल नहीं बना देती।

तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया।
पद झंकार मात्रेण यया नापहृत मन ॥

सो संस्कृत कवि की दृष्टि में कविता में मादकता होनी ही चाहिए। मादकता भी अस्पष्ट और अतीन्द्रिय नहीं, बल्कि स्पष्ट और मुष्टि ग्राह्य होनी चाहिए। संस्कृत-कवि का विश्वास है कि अशोक यों ही नहीं फूलता। सुन्दरियों के नूपुर चरणों के आघात से फूलता है और बकुल मुख मदिरा से सिंचकर खिल उठता है। कुरवक और तिलक इतने बहया तो नहीं हैं लेकिन थोड़ा बहुत बहाना उन्हें भी चाहिए। संस्कृत के कवि ने आश्चर्यचकित होकर देखा है कि ये वृक्ष इन बातों के अभाव में भी कैसे फूल उठते हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि सुनयनाओं द्वारा न तो कुरवक आलिंगित हुआ और न तिलक वीक्षित हुआ न अशोक चरणों द्वारा ताडित हुआ और न बकुल उनकी मुख मदिरा से सींचा हो गया फिर भी चैत के महीने में वे फूलों के भार से लद गए

नालिंगित कुरवकस्तिलको न दृष्टो,
नो ताडितश्च सुदृशा चरणैरशोक।
सिक्तो न वक्त्रमधुना बकुलश्च चैत्रे
चित्र तथापि भवति प्रसवावकीर्ण ॥

वस्तुत यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह कोई आश्चर्य जनक व्यापार या करामात नहीं है। कवि के अन्तर्यामी जानते हैं कि करामात असल में वही चीज है जिसके अभाव में उसे आश्चर्य हो रहा है परन्तु फिर भी वह जानता है कि केवल फूलों का वर्णन कर देना पर्याप्त नहीं है। जब तक

वनस्थली के इस सारे पुलकोदगम को मानव सौन्दर्य के साथ सबद्ध नही कर लिया जाता तब तक उसम मोहकता नही आएगी। इसीलिए वह जान-बूझ कर अनजान की भाँति चत्र की पुष्प समद्धि देखकर आश्चर्य प्रकट करता है मानो चत्र म फूलो का आना ही अघटित घटना है और कवि प्रसिद्धियो के रूप म विनापित बात ही वास्तविक सत्य हैं।

सस्कृत म कवि-समय और कवि प्रसिद्धि इन दो शब्दो का प्रयोग मिलता है। कवि प्रसिद्धि अधिक व्यापक अथ का सूचक है। राजशेखर न काव्य मीमासा म कवि समय शब्द का प्रयोग किया है। राजशेखर बहुश्रुत विद्वान थ वे लीक पर चलन वाल आलकारिक नही थ। उन्होंन कवि समय शब्द का प्रयोग कवियो क आचार या सम्प्रदाय क रूप म किया है। इस शब्द के प्रयोग स उनका अभिप्राय यह था कि कवि लोग परम्परा स कुछ एसी बातो का प्रयोग करत आ रहे हैं जो लोक म घटित होती नही दिखाई दती। अर्थात् विशुद्ध यथार्थवादी दष्टि से जिनकी सच्चाई सदिग्ध है परन्तु फिर भी दीघ काल स रसिको की दुनिया म काव्य को मोहक मादक और मनोरजक बनान क लिए प्रयुक्त होती आ रही हैं। उदाहरणार्थ अशोक और बकुल के दोहद या पुष्पोद्‌गम वाली प्रसिद्धि को ही लीजिए। कालिदास जसे कवि ने इस प्रसिद्धि का आश्रय लकर काव्य और नाटक की रचना म उसका उपयोग किया परन्तु सच जगत म एसा होत दखा नही जाता। अब आलकारिक आचाय मानत हैं और ठीक ही मानत हैं कि जो वस्तु दश काल, कला याय और आगम क विरुद्ध हो और प्रतिज्ञा हतु तथा दष्टान्त स असमर्थित हो उसका उल्लख दोष है। तो फिर अशोक दोहद वाली प्रसिद्धि भी काव्य-दोष ही कही जाएगी क्योंकि वह लगभग क भाव की तरह कवल बात ही बात है। किन्तु राजशेखर का कहना है कि जो बात दीघकाल स कवियो म सच समझकर गृहीत होती

देश-काल म यदि व्यतिक्रम हो गया हो तो उन बातो को अयथार्थ नही मान लेना चाहिए।

राजशेखर प्रकृति के बड़े सूक्ष्म निरीक्षक थे उनके मत से प्राकृतिक निरीक्षण का अभाव कवि का बहुत बडा दोष है। उन्होने कहा है कि कवि अनुसधान नही करता उनके गुण भी दोष हो जाते हैं और जो कवि अनुसधान करता है उसके दोष भी गुण हो जाते हैं। इसीलिए कवि को अनुसधानप्रिय होना चाहिए। राजशेखर के कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तु की ठीक ठीक खोजबीन करनेवाला व्यक्ति कभी गतानुगति का या अधानुकरण का शिकार नही हो सकता। उस कवि म यदि ऐसी कोई बात मिल जाए जिसके सबध म साधारण विश्वास दूसरी तरह का हो, तो ससार मे कवि को ही अधिक प्रामाणिक माना जाएगा और साधारण विश्वास को गलत ठहराया जाएगा क्योकि लोगो के चित्त मे कवि की प्रामाणिकता की धाक जमा रहेगी।

अनुसधान शून्यस्य भूषण दूषणायते ।

सावधानस्य च कवेर्दूषण भूषणायते ।।

राजशेखर ने अनेक प्राचीन काव्यो का अध्ययन करके इन कवि समयो का महत्त्वपूर्ण विश्लेषण अपने ग्रन्थ म उपस्थित किया है। उन्होने लिखा है कि काव्यो म जो कवि समय सुप्त की तरह पडा हुआ था उसे हमने यथाबुद्धि जगा दिया।

सोऽय कवीना समय काव्ये सुप्त इव स्थित ।

स साम्प्रतमिहास्माभिर्यथा बुद्धि विबोधित ।।

कवि प्रसिद्धियो म कुछ तो ऐसी हैं जो कि वस्तुत होती नही पर कवि लोग उनका ऐसा वर्णन करते हैं मानो वह होती हैं। और कुछ ऐसी हैं जो होती तो हैं पर कवि लोग ऐसा वर्णन करते हैं मानो वे होती ही नही। और कुछ ऐसी होती हैं जिनकी होने की सम्भावना तो अनेक स्थलो पर है परन्तु कवियो की दुनिया म जिनका एक निश्चित स्थान पर होना ही स्वीकार किया जाता है। नदियो म कमल या नीलकमल सभी जलाशयो म हस हर पर्वत पर सुवर्ण, रत्न आदि का वर्णन पहली श्रेणी म आता है। हो सकता है कि कही नदी का पानी अवरुद्ध हो गया हो और उसम कमल भी खिल गया हो, परन्तु इसका मतलब यह नही कि नदी का प्रसग आते ही कमल का वर्णन करना शुरू कर दिया जाए। परन्तु कवियो का ऐसा सप्रदाय है कि नदी म कमल के पुष्प का वर्णन करना चाहिए। कालिदास जैसे कवि इस लोभ से अपने को नही बचा सके हैं। मेघदूत म उन्होने शिप्रा म खिले हुए कमलो की सुगधि स सुरभित शिप्रा वायु

का उल्लेख किया है—

> दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां ।
> प्रत्यूषेषु स्फुटित कमलामोद मैत्री कषाय ।।
> यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूल
> शिप्रा वातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ।।

इसी प्रकार वसन्त में मालती का न खिलना, चन्दन के वन में पुष्प या फल का न होना, अशोक में फल न आना आदि बातें दुनिया में तो ठीक नहीं हैं किन्तु कवि लोग ऐसा ही कहते आए हैं। इन दोनों बातों को राजशेखर की भाषा में क्रमशः असतो पि निबन्धनम् और सतोऽपि अनिबन्धनम् कहते हैं। तीसरी श्रेणी के कवि समय वे हैं जिन्हें राजशेखर नियम कहते हैं। जो बात और कई जगह हो सकती है उसे एक ही जगह बाँध देना नियम है। जैसे मकर नदी और भील में होते हैं पर वर्णन समुद्र में ही किया जाता है। मोती बहुत स्थानों में पैदा होते हैं लेकिन कवि लोग यह गौरव ताम्रपर्णी नदी को ही देते हैं। किसी कवि ने कहा है कि दुनिया में कितनी ही प्रतिष्ठित नदियाँ क्यों न हों कितने ही स्वादुजल क्यों न हों और कितनी ही सीपियाँ पैदा क्यों न होती हों किन्तु मुक्ता रूपी कामधेनु ताम्रपर्णी को छोड़कर और कहीं पैदा नहीं होती।

> कामं भवन्तु सरितो भुवि सुप्रतिष्ठा
> स्वादूनि सन्तु सलिलानि च शुक्तयश्च ।
> एतां विहाय वरवर्णिनि ताम्रपर्णी
> नान्यत्र संभवति मौक्तिक कामधेनु ।।

राजशेखर ने इन तीनों बातों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—जाति द्रव्य और क्रिया। अब तक जाति के विषय में चर्चा हुई। द्रव्य के कवि समय भी तीन प्रकार के होते हैं। जैसे पहली श्रेणी में अंधकार को मुष्टिग्राह्य या सूचीभेद्य बताना, ज्योत्स्ना को घड़े में भरने योग्य बताना इत्यादि। द्वितीय श्रेणी में कृष्ण पक्ष में ज्योत्स्ना तथा शुक्ल पक्ष में अंधकार का वर्णन न करना। तीसरी श्रेणी में मलय को चन्दन का आश्रय बताना, हिमालय को ही भूर्जपत्र का स्थान बताना। इसी तरह से क्रिया सम्बन्धी कवि समयों में रात में चक्रवाक जोड़ों का अलग हो जाना, चकोरों का चन्द्रिका पान करना, दूसरी श्रेणी में दिन में नील कमल का न खिलना या रात में शेफालिका कुसुमों का न झड़ना तथा तीसरी श्रेणी में कोयल का केवल वसंत में बोलना, मयूरों का वर्षा में ही नाचना इत्यादि बातें हैं।

कवि समय की भाँति राजशेखर ने गुण समयों की भी स्थापना की है।

इन्हें भी कवि प्रसिद्धियों में ही गिनना चाहिए। इनमें यश और हँसी का सफेद होना, अपयश और पाप का काला होना, क्रोध का लाल होना आदि बातें ऐसी हैं जो असतोऽपिनिबन्धन अर्थात नहीं होती पर होना कहा जाता है। कुछ गुण ऐसे हैं जो होते और तरह के हैं पर वर्णन और तरह से होता है। कवियों की दुनिया में प्रसिद्ध है कि कुन्द का कुड्मल लाल नहीं होता। फिर कमल मुकुल को हरा और प्रियंगु को पीला नहीं वर्णन किया जाता यद्यपि इनमें ये गुण मिलते हैं। सामान्यतः मणि माणिक्यों का रंग लाल, पुष्पों का सफेद और मेघ का काला कहा जाता है। कृष्ण नील, हरित श्याम आदि रंगों का प्रयोग एक ही अर्थ में कर लिया जाता है। पीत और रक्त को तथा श्वेत और गौर को एक ही मान लिया जाता है। आँखों का वर्णन कभी श्याम कभी कृष्ण, कभी श्वेत कभी लाल और मिश्र रंग का किया जाता है। राजशेखर ने स्वर्ग और पाताल के लिए भी एक विस्तृत अध्याय लिखा है। जैसे चन्द्रमा में हरिण और नाग की एकात्मता, कामदेव की ध्वजा में मकर और मत्स्य का ऐक्य, अभिनेत्र और समुद्र से उत्पन्न चन्द्रमा का ऐक्य काम की मूर्तता बारह सूर्यों का ऐक्य इत्यादि बातें गिनाई हैं। यह आश्चर्य की बात है कि राजशेखर ने अशोक बकुल आदि की दोहद वाली कवि प्रसिद्धियों की चर्चा नहीं की। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उन्हें प्रसिद्धियों का पता नहीं था क्योंकि उनके ग्रन्थ में ही इस बात का सबूत है कि वे इन बातों को जानते अवश्य थे। सम्भवतः वे इसे अलौकिक या अशास्त्रीय नहीं मानते थे। विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में इन बातों को भी कवि समय के अन्तर्गत माना है। वस्तुतः कवि प्रसिद्धियाँ और भी अधिक छान-बीन की अपेक्षा रखती हैं। पुराने आचार्यों ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर जितना कहा है वह महत्त्वपूर्ण होते हुए भी संक्षिप्त और सीमित ही है। यह नहीं समझना चाहिए कि कवि प्रसिद्धियों की सूची इतनी ही है। उत्तर मध्यकाल में कुछ ऐसी प्रसिद्धियाँ मिल जाती हैं जो संस्कृत साहित्य में नहीं हैं। क्रौंच पक्षी का संकल्प से अपने अण्डों को पालना और उत्सुकतापूर्वक बार बार पहाड़ की ओर देखने के कारण उनकी गर्दन लम्बी हो जाना सन्त साहित्य की प्रसिद्धियाँ हैं। कबीर ने कहा है—

रात्यूं रूनी बिरहनी ज्यों बचों कूं कुंज।
कबीर अन्तर परजल्या प्रगट्या विरहा पुंज॥

इस प्रकार की और प्रसिद्धियाँ हैं जो अन्वेषक के परिश्रम से ही संगृहीत हो सकती हैं।

क्या समझाया था, जिससे वह लडाई लडने को तयार हो गया ? वह क्या वराग्य का उपदेश था योगमार्ग की शिक्षा थी अद्वैतवाद का लोकोत्तर ज्ञान था, भक्ति की भावुकता थी, यज्ञ याग करने की विधि थी या अहिंसक वचन की सिखावन थी ? पुराने आचार्यों ने अपने अपने ढग से इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। लोकमान्य तिलक ने अपनी बात किसी पूर्व आग्रह के वशीभूत होकर नही कही। उन्होने गीता के रचे जाने की पूरी परिस्थिति का ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया। किस उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई किस परिणाम तक इसके वक्ता और श्रोता पहुँचे क्या सदभ था, उन दिनो तक भारतीय मनीषा किन महान विचारो को दे सकी थी ग्रन्थ के विभिन्न सदर्भों म कही हुई बातो की सगति क्या है इत्यादि बातो की निपुण परीक्षा के बाद वे इस निष्कर्ष पहुचे कि गीता कर्मयोग शास्त्र है। गीता रहस्य मे उन्होने विस्तार के साथ इस निष्कर्ष को स्पष्ट किया है। गीता रहस्य के पृष्ठ ५१ पर वे लिखते हैं—

गीता धर्म कसा है ? वह सर्वतोपरि निर्भय और व्यापक है। वह सम है, अर्थात वर्ण जाति देश या किन्ही अन्य भेदो के झगडे म नही पडता किन्तु सब लोगो को एक ही मापतोल से सदगति देता है। वह अन्य सब धर्मों के विषय म यथोचित सहिष्णुता सिखाता है। वह ज्ञान भक्ति और कर्मयुक्त है। और अधिक क्या कहे वह सनातन वदिक धर्मवृक्ष का अत्यन्त मधुर तथा अमृत फल है। वदिक धर्म म पहले द्रव्यमय या पशुमय यज्ञो का अर्थात केवल कर्मकाण्ड का ही अधिक माहात्म्य था। परन्तु फिर उपनिषदो के ज्ञान से यह केवल कर्मकाण्ड प्रधान श्रौतधर्म गौण माना जाने लगा और उसी समय साख्य शास्त्र का भी प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु यह ज्ञान सामान्य जनो को अगम्य था और इसका झुकाव भी कर्म स सन्यास की ओर ही विशेष रहा करता था। इसलिए केवल औपनिषदिक धर्म स अथवा दोनो की स्मार्त एकवाक्यता स भी सर्वसाधारण का पूरा समाधान होना सम्भव नही था। अतएव उपनिषदो के केवल बुद्धिगम्य ब्रह्मज्ञान के साथ प्रेमगम्य व्यक्त उपासना के राजगुह्य का सयोग करके कर्मकाण्ड की प्राचीन परपरा के अनुसार ही अर्जुन का निमित्त करके गीता धर्म सब लोगो से मुक्त कठ से यही कहता है कि तुम अपनी योग्यता के अनुसार अपने अपने सासारिक कर्तव्यो का पालन लोक सग्रह के लिए निष्काम बुद्धि से आत्मौपम्य दृष्टि से तथा उत्साह से यावज्जीवन करते रहो। और उनके द्वारा एस नित्य परमात्मा देवता का सदा यजन करो जो पिण्ड ब्रह्माण्ड म तथा समस्त प्राणियो म एकत्व स व्याप्त है। इसी म तुम्हारा सासारिक तथा पारलौकिक कल्याण है। (पृ० ५३१)।

गीता के दूसरे अध्याय के ४७वें श्लोक के चारों चरणों को लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग की चतुःसूत्री कहा है। (पृ० ६६८) उन्हीं के अनुवाद के अनुसार ये चारों चरण हिन्दी में इस प्रकार रखे जा सकते हैं—

१—कर्म करने मात्र का तेरा अधिकार है।

२—फल (मिलना या न मिलना) कभी भी तेरे अधिकार या ताबे में नहीं है।

३—(इसलिए तू मेरे कर्म का) अमुक फल मिले यह हेतु (मन में) रखकर काम करनेवाला न हो।

४—और काम न करने का भी तू आग्रह न कर।

इस श्लोक की व्याख्या करने के पश्चात सारांश रूप में उन्होंने कहा है—सारांश कर्म कर कहने से कुछ यह अर्थ नहीं होता है कि फल की आशा रख। और फल की आशा को छोड़' कहने से यह अर्थ नहीं हो जाता कि कर्मों को छोड़ दे। अतएव इस श्लोक का यह अर्थ है कि फलाशा छोड़कर कर्तव्य कर्म अवश्य करना चाहिए। किन्तु न तो कर्म की आसक्ति में फँसे और न कर्म ही छोड़े।

इस प्रकार गीता में अनासक्त भाव से कर्म के फल पाने की इच्छा न रखते हुए सबके कल्याण-कार्य और सेवा-कार्य में लगे रहने की शिक्षा दी गई है। कर्म करते रहने में ही मनुष्य का अधिकार है फल मिलने न मिलने में बिल्कुल नहीं।

लोकमान्य तिलक ने उन दिनों के नवशिक्षित भारतवासियों में इस विश्वास को जड़ पकड़ते देखा था कि हमारे प्राचीन शास्त्रकार मोक्ष ही के गूढ़ विचारों में निमग्न हो जाने के कारण सदाचरण के या नीति धर्म के मूलतत्त्वों का विवेचन करना भूल गए। इसके उत्तर में वे कहते हैं 'परन्तु महाभारत और गीता के पढ़ने से यह भ्रमपूर्ण समझ दूर हो जा सकती है। और गीता रहस्य को पढ़नेवाला निस्सन्देह इस भ्रम से मुक्त हो जाएगा। हमारे पुराणों और महाभारत में वीर पुरुषों का चरित भरा पड़ा है। लोकमान्य कहते हैं कि 'क्या इस इतिहास को लिखते समय उनके मन में यह विचार नहीं आया होगा कि जिन *प्रसिद्ध पुरुषों का इतिहास हम लिख रहे हैं उनके मर्म या रहस्य को भी प्रकट कर* देना चाहिए? वे स्वयं इसका उत्तर भी देते हैं— इस मर्म या रहस्य को ही कर्मयोग अथवा व्यवहार शास्त्र कहते हैं और इसे बतलाने के लिए ही महाभारत में सूक्ष्म धर्म अधर्म का विवेचन करके अन्त में संसार के धारण-पोषण के लिए कारणभूत होने वाले सदाचरण अर्थात धर्म के मूल तत्त्वों का विवेचन मोक्ष

दृष्टि को न छोड़ते हुए गीता में किया गया है। अन्यान्य पुराणों में भी ऐसे प्रसंग पाए जाते हैं, परन्तु गीता के तेज के सामने अन्य सब विवेचन फीके पड़ जाते हैं इसी कारण भगवद्गीता कर्मयोग शास्त्र का प्रधान ग्रन्थ हो गया है। — (पृ० ४६५)

गीता रहस्य में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के अपूर्व पांडित्य, अडिग धैर्य और अस्खलित आस्था देखकर पाठक चकित रह जाता है। मजेदार बात यह है कि इतना पांडित्यपूर्ण ग्रन्थ माण्डले (जेल) में पेंसिल से लिखा गया था। माण्डले जेल में उस समय इस ग्रन्थ के लेखक सरकारी कोप के शिकार होकर पड़े हुए थे। पुस्तकों की उन्हें कितनी सुविधा मिली होगी यह बात आसानी से समझी जा सकती है। कागज और पेंसिल मिल गए थे यही क्या कम है? सबसे बड़ा संबल लेखक की स्मृति शक्ति ही थी। सरकार ने कृपापूर्वक पूना से कुछ पुस्तकें मंगा लेने की अनुमति अवश्य दी थी। लोकमान्य को खेद था कि 'उस समय पुस्तक वहां (मांडले जेल में) न होने के कारण कई स्थानों में अपूर्णता रह गई थी। यह अपूर्णता वहां से छुटकारा हो जाने पर पूर्ण तो कर ली गई है परन्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता है कि ग्रन्थ सर्वांग में पूर्ण हो गया है।' परंतु अपूर्ण ही सही, यह ग्रन्थ न केवल भारतीय मनीषा की अपूर्व देन ही है बल्कि हमारे देश के कर्मयोगियों का निरंतर प्रेरणा देनेवाला सिद्ध हुआ है। साथ ही यह हमें अपने महान नेता के त्यागपूर्ण जीवन की ओर उनके भीतर छिपी हुई अपार शक्ति को समझने की कुंजी भी देता है। गीता में कर्मयोगी को जिस रूप में समझाया गया है और 'गीतारहस्य' में उसकी जैसी कुछ व्याख्या है उसका प्रत्यक्ष विग्रह स्वयं लोकमान्य तिलक थे। निष्काम कर्म और समबुद्धि के दर्शन को उन्होंने अपने व्यापक जीवन में मूर्त रूप दिया था। परमात्मा को समर्पण बुद्धि से कर्म करनेवालों में वे अग्रगण्य थे, सत्य के लिए किसी प्रकार के कष्ट को उन्होंने कष्ट नहीं समझा व गीतोक्त स्थितप्रज्ञ थे। उनकी साधना ने भारतभूमि को पराधीनता के पाश से मुक्त किया। उनका स्मरण करके हम धन्य होंगे।

लोकमान्य का सारा जीवन भगवान को समर्पित जीवन था। उन्होंने लोक-सेवा का जो व्रत लिया था वह उनके इसी भगवदर्पण भाव का साक्षात् रूप था। कर्म करना, जो कुछ करना वह भगवान को समर्पण कर देना फलाशा का त्याग करना और सेवा-कार्य में एकान्त भाव से जुटे रहना यही तो कर्मयोग है। इस कर्मयोग का प्रत्यक्ष उदाहरण उनका महान जीवन ही है।

ज्योतिर्विज्ञान

भारतीय विद्याओं में ज्योतिष शास्त्र का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे वेदांग कहा गया है और बताया गया है कि यह शास्त्र वेद की आँख है। इसके द्वारा समय का निर्णय होता है। किस ऋतु में किस तिथि को कौन-सा सत्कार्य होगा इसका निर्णय करना ज्योतिष शास्त्र का काम है। इसीलिए बहुत प्रचीन काल से भारतवर्ष में इस विद्या के प्रति बड़ा आदर है। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक कहा है कि जो ज्योतिष जानता है वही वेद को जानता है।—या ज्योतिष वेद स वेद वेदम। परन्तु बहुत लोग ज्योतिष को एक अन्धविश्वास या अधिक से अधिक अटकलपच्चू विधान मात्र मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ज्योतिष के नाम पर बहुत तरह की घटिया किस्म की बातें जनसाधारण में मान पा रही हैं, पर वे ही ज्योतिष नहीं हैं। प्राचीन भारत में यह विद्या बहुत विकसित और विज्ञान (शास्त्र) की मर्यादा की अधिकारिणी थी। ईसवी सन की छठी शताब्दी में वराहमिहिर ने ज्योतिष को तीन स्कन्धों में विभाजित करके समझाया था। (१) तन्त्र या गणित स्कन्ध—इसमें आजकल का अंकगणित (अरिथमेटिक) बीजगणित (अलजबरा) रेखागणित (ज्यामेट्री) त्रिकोणमिति (ट्रिगनोमेट्री) आदि विद्याएँ भी आती हैं और करण या प्रैक्टिकल एस्ट्रोनामी भी आती है। इस विद्या में भारतवर्ष बहुत ही समृद्ध था। भारतवर्ष की प्रतिभा ने ही दशमलव पद्धति या डेसिमल सिस्टम का आविष्कार किया था। आज यह पद्धति सम्पूर्ण संसार के व्यावहारिक गणित की नींव मानी जाती है। अरब के लोगों ने इसे भारतवर्ष से ही सीखा था। वे इसे इल्म हिंदसा अर्थात् भारतीय विद्या कहते हैं। उन्होंने इसे सारे योरप में फैलाया। आज से ढाई हजार वर्ष से भी पहले अरब में संस्कृत के अनेक ज्योतिष ग्रन्थों का अनुवाद हो चुका था और वराह

मिहिर मुञ्जाल ब्रह्मगुप्त आदि प्रसिद्ध भारतीय गणितज्ञ अरब में अपने ही आचार्य माने जाते थे। (२) दूसरा स्कन्ध है संहिता स्कन्ध। इसमें प्राकृत घटनाओं के कारण जानने का प्रयास होता था। वर्षा कब होती है क्यों होती है? चन्द्रमा के चारों ओर परिधि क्या पड़ती है? भूकम्प होने का कारण क्या है? सन्ध्याकाल में आकाश क्यों लाल हो जाता है? इन्द्रधनुष क्या है? इत्यादि बातों का आरम्भिक ज्ञान इस स्कन्ध में मिलता है। इसमें मकान, गाय, भैंस, घोड़ा हाथी कम्बल खड्ग, आदि के स्वभाव और लक्षण पर विचार किया जाता था। अच्छे पुरुष और अच्छी स्त्री की क्या पहचान है? कौन से लक्षण शुभ हैं कौन से अशुभ इस बात पर विचार किया जाता था। खंजन, शृगाली कुत्ता चामर आसन, शय्या आदि के शुभाशुभ का विचार हुआ करता था। आजकल के अनेक विज्ञान उसमें अंकुरावस्था में मिलते हैं और अनेक काफी परिपुष्ट अवस्था में भी। इसी स्कन्ध में आजकल के मेट्रिओलाजी जियोलाजी कृषि विज्ञान आदि के बीज मिल जाते हैं। वास्तु विद्या का रूप भी इसमें मिल जाता है। परंतु सर्वत्र शुभ और अशुभ, मंगल और अमंगल की चिन्ता इसमें प्रधान स्थान अधिकार रखती है। (३) तीसरा स्कन्ध है होरा स्कन्ध। अर्थात गृह नक्षत्रों की विभिन्न स्थितियों से मनुष्य की भाग्य गणना। आजकल एस्ट्रोलाजी इसी का रूप है। होरा ग्रीक भाषा का शब्द है। यह विद्या भारतीयों ने यवनाचार्यों अर्थात ग्रीक विद्वानों से सीखी था। बहुत प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों में इसकी चर्चा नहीं मिलती।

संक्षेप में ज्योतिष शास्त्र के यही विषय है। जहां तक प्रथम दो स्कन्धों का प्रश्न है, भारतवर्ष में इनकी जड़ें काफी मजबूत और गहरी है। तीसरा स्कन्ध बाद में आया है पर संसार के अन्यान्य देशों की जनता की भांति भारतीय जनता को इसने भी अभिभूत किया है।

तन्त्र या गणित स्कन्ध विशुद्ध और सही अर्थों में विज्ञान है। इसमें पूर्ववर्ती आचार्यों के मत को निरन्तर व्यावहारिक ज्ञान द्वारा संशोधन करते रहने की प्रवृत्ति है। यद्यपि भारतीय चित्त आप्तवाणी को परम प्रामाण्य मानता है पर गणित के आचार्यों ने इस क्षेत्र में बिलकुल स्वतन्त्र चिन्तन को बहुमान दिया है। बारहवीं शताब्दी के भास्कराचार्य, प्रसिद्ध गणितज्ञ ब्रह्मगुप्त की परम्परा में हुए थे। उन्होंने ब्रह्मगुप्त का नाम बड़े आदर और सम्मान के साथ लिया है। परन्तु ब्रह्मगुप्त के पुराने ग्रन्थों में अयनगति की कोई चर्चा नहीं है। यह स्पष्ट भूल है। ब्रह्मगुप्त के काल में पुराने ग्रन्थों में बताये अयनसपात से शास्त्र की अयनसम्मान का अन्तर बहुत कम था। उन्हें उसके चलने का भाव नहीं,

हुआ था। पर भास्कराचार्य के जमाने में उसका अन्तर बहुत बढ़ गया था। उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। यद्यपि भास्कराचार्य के मन में ब्रह्मगुप्त के प्रति बड़ा सम्मान का भाव था फिर भी उन्होंने लिखा कि इस ज्योतिष शास्त्र में प्रत्यक्ष आगम और तर्क शुद्ध बुद्धि का ही प्रमाण है क्योंकि इसमें बराबर संशोधन होते रहेंगे। अनन्त काल तक यह नहीं कहा जा सकेगा कि अब तक जो कह दिया गया वही आखिरी बात है। ब्रह्मगुप्त के समान बड़े बड़े विद्वान निरन्तर पैदा होते रहेंगे और संशोधन करते रहेंगे। यह विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि है। सदा संशोधन के लिए प्रस्तुत सदा प्रयोगों द्वारा परिणामों को जाँचने की आग्रहवती। जो लोग भारतीय ज्योतिषियों की इस दृष्टि का परिचय नहीं रखते वे ही अनापशनाप बका करते हैं। ये आचार्य दृढ़ कंठ से स्वीकार करते हैं कि जो कुछ कहा गया है वह अन्तिम नहीं है। संसार में थीसिस नाम की कोई चीज नहीं है। जो कुछ है वह अधिक-से अधिक हाइपाथीसिस है। आज भी क्या हम गणित ज्योतिष में अन्तिम बात जानने का दावा कर सकते हैं ? निरन्तर ब्रह्मगुप्त के समानधर्मा विद्वान पैदा होते जा रहे हैं और निरन्तर पुरानी बातों को नये आलोक में देखने का प्रयास जारी है।

सभी जानते हैं कि भारतवर्ष में जाति-पाँति की कैसी जबदस्त पैठ है। पुराना भारतीय अपने को संसार का श्रेष्ठ मनुष्य मानता था। दूसरे देश के निवासियों को वह म्लेच्छ से अधिक मानने को तैयार नहीं था पर ऐसा मानना ठीक नहीं है। संसार के हर भाग में मनीषी और विद्वान पैदा होते हैं हो सकते हैं। आज का आधुनिक मनुष्य इस प्रकार नहीं सोचता। उसे यह दृष्टि अवैज्ञानिक ही लगती है। नई शिक्षा ने हमें एक प्रकार का उदार दृष्टिकोण दिया है। अब हम मनु महाराज की तरह भुजा उठाकर यह घोषणा नहीं करते कि इसी देश में पैदा होनेवाले अग्रजन्मा मनीषियों से संसार के सब मनुष्यों ने चारित्र्य और सदाचार सीखा है। किन्तु ज्योतिष के प्रमुख आचार्यों को यह वैज्ञानिक दृष्टि पहले से ही प्राप्त थी। छठी शताब्दी के प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर ने कहा था कि यह सही है कि यवन (ग्रीक) लोग म्लेच्छ हैं। परन्तु उनमें ज्योतिष शास्त्र का अच्छा ज्ञान है। उनकी पूजा भी ऋषियों की तरह होती है फिर अगर भारतवर्ष का ब्राह्मण इस शास्त्र को जाने तो क्या बात है—

म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः ।

इस घोषणा में आत्मसम्मान के साथ ही साथ ज्ञान की पवित्रता के प्रति निष्ठा है। वराहमिहिर ने अनेक यवनाचार्यों के मत अपने ग्रन्थों में सादर उद्धृत

किय हैं।

ज्ञान के प्रति इस निष्ठा का ही परिणाम है, कि भारतीय ज्योतिषी अंकगणित बीजगणित, त्रिकोणमिति आदि शास्त्रों में अपने युग के संसार के अन्य वैज्ञानिकों की तुलना में अग्रणी रहे। उन्होंने संसार के सभ्य देशों से लिया भी और दिया भी। आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व तक भारतवर्ष इन वैज्ञानिक विषयों में संसार भर का सम्मान पाता रहा। प्रसिद्ध अरब यात्री अलबरूनी ने भारतीय ज्योतिष विद्या की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। अनेक संस्कृत ग्रंथों का अरबी में भाषान्तरित होना इस आदर भाव का ही परिणाम था। भारतीय विद्या अरब के माध्यम से अन्य पश्चिमी देशों में भी पहुँची है।

ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी के बाद सारे भारतीय ज्ञान में एक प्रकार की जड़िमा का भाव आने लगा। यह भावना क्रमशः बद्धमूल होती गई कि जो कुछ अच्छा और ग्राह्य है वह पहले के आचार्यों ने कह दिया है। नये सिरे से केवल उनकी टीका लिखी जा सकती है। इस काल में राजनीतिक उथल-पुथल भी बहुत रही। भारतीय जनता अधिकाधिक रूढ़िग्रस्त होती गई। ज्ञान के क्षेत्र में स्वाधीन चिन्तन का अभाव होता गया। अंधविश्वासों और मूढ़ाग्रहों का बोलबाला होता गया। और परिणामस्वरूप विद्या के क्षेत्र में जड़िमा का संचार हुआ। ज्योतिष विद्या में भी सिद्धांत ग्रंथों के स्थान पर आसानी से गणना करने वाले करण ग्रंथों और सारणियों का चलन बढ़ गया। ग्रह-गणित के नये संस्कारों की बात भुला दी गई और ज्योतिषी का अर्थ केवल भाग्य गणना करने वाला होता गया।

भारतीय ज्योतिर्विज्ञान का इतिहास बहुत पुराना है। लगध मुनि के वेदांग ज्योतिष और जैन आगमों के सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रंथों में इसका जो रूप मिलता है वह आरम्भिक है। बाद में इसमें क्रमशः सूक्ष्मता और गंभीरता आती गई है। वराहमिहिर ने अपनी पंच सिद्धांतिका में पांच पुराने सिद्धांत ग्रंथों की चर्चा की है। उनमें उन्होंने सूर्य सिद्धांत को श्रेष्ठ पाया था। निस्सन्देह सूर्यसिद्धान्त की ग्रह-गणना पर्याप्त सूक्ष्म है। कई बातों में वह गणना आधुनिक गणना के बहुत निकट आती है। पर वराहमिहिर ने जिस सूर्य सिद्धांत की चर्चा की है वह अधुना प्रचलित सूर्य सिद्धांत से कुछ भिन्न जान पड़ता है। इसका मतलब यह हुआ कि वराहमिहिर के बाद भी सूर्य सिद्धान्त में संस्कार होते रहे हैं। भारतीय ज्योतिषियों की वैज्ञानिक दृष्टि का ही यह फल है कि सूर्य सिद्धान्त जैसे अत्यन्त पवित्र माने जानेवाले ग्रन्थ में भी संस्कार होते रहे हैं।

सहिता स्कन्ध म जिन विषया की चर्चा हाती है उन्ह दखकर सहज हा उस गभीर उत्सुकता और जिनासा का परिचय मिलता है जो भारतीय मनी षियो को प्रकति के प्रत्यक्ष रहस्य को समझन की प्रेरणा दती है। सहिताओ मे विविध प्राकतिक स्थितियो को समझाने के जो प्रयास किय गय हैं व आज के वनानिक के लिए बहुत ग्राह्य नही हैं। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि आज स लगभग डेढ हजार वष पहले सहिता स्कन्ध की प्रगति रुक गई थी। ससार के उसी काल क वनानिक विश्वासा क साथ उसकी तुलना की जा सकती है। परवर्ती काल के वज्ञानिक विकास के साथ उसकी तुलना करना उसके साथ अन्याय होगा। उसम जो जिनासा और उत्सुकता है वही मुख्य बात है।

बारहवी शताब्दी के बाद होरा शास्त्र और शुभाशुभ बतान वाल ग्र था से ही ज्योतिष विद्या लद गई है। आधुनिक शिक्षित व्यक्ति उनके प्रभाव और प्रसार को देखकर यह समझने लगता है कि यही भारतीय ज्योतिष है। पर यह बात केवल आशिक रूप से ही सत्य है।

सस्कृत-साहित्य मे पक्षी-वर्णन

सस्कृत माहित्य मे पक्षिया की इतनी अधिक चर्चा है कि अन्य किसी साहित्य म इतनी चर्चा शायद ही हो। जिन दिनो सस्कृत के काव्य नाटको का निर्माण अपने पूरे चढाव पर था, उन दिनो केलि गृह और अन्त पुर के प्रासाद प्रागण से लेकर युद्ध क्षेत्र और वानप्रस्था के आश्रम तक कोई-न-कोई पक्षी भारतीय सहृदय के साथ अवश्य रहा करता था। वह विनोद का साथी था, रहस्यालाप का दूत था भविष्य के शुभाशुभ का द्रष्टा था वियोग का सहारा था सयोग का योजक था, युद्ध का सदेशवाहक था और जीवन का ऐसा कोई क्षेत्र नही था जहा वह मनुष्य का साथ न देता हो। कभी भवनवलभी म सोये हुए पारावत के रूप म कभी मानिनी को हँसा देनेवाले शुक के रूप म कभी अनात प्रणयिनी के विरहोच्छवास को खोल देनेवाली सारिका के रूप म, कभी नागरिका की गोष्ठी को उत्तेजित कर देनेवाले योद्धा कुक्कुट के रूप म कभी भवन दीर्घिका (अन्त पुर के तालाब) म मृणाल ततुभक्षी कलहस के रूप म कभी अनात प्रिय के सदेशवाहक राजहस के रूप म, कभी चूत-कषाय-कठ से विरहिणी के दिल म हूक पदा कर देने वाले कोकिल के रूप म, कभी नूपुर की झकार से झकार ध्वनिकारी सारस के रूप म कभी कंकण की रुनझुन से नाच पडनेवाले मयूर के रूप म कभी चद्रिकापान से मदविह्वल होकर मुग्धा के मन म अपरिचित हलचल पदा कर देनेवाले चकोर के रूप म वह प्राय इस साहित्य म पाठक की नजरो मे टकरा जाता है। इन पक्षियो को सस्कृत-साहित्य म से निकाल दीजिए फिर देखिए कि वह कितना निर्जीव हो जाता है। हमारे प्राचीन साहित्य को जिन्होने इतना सजीव कर रखा है इतना सरस बना रखा है उनके विषय म अभी तक हिन्दी म कोई विशेष उल्लेख-योग्य अध्ययन नही हुआ है यह हमारी उदासीनता का पक्का प्रमाण है।

महाभारत में एक पक्षी ने एक मनुष्य से कहा था कि मनुष्य और पक्षियों में सम्बन्ध दो ही तरह के हैं—भक्षण का सम्बन्ध और क्रीड़ा का सम्बन्ध। अर्थात् मनुष्य या तो पक्षियों को खाने के काम में लाता है या उन्हें पकड़कर उनसे मनोविनोद किया करता है—और कोई तीसरा सम्बन्ध इन दोनों में नहीं है। एक वध का सम्बन्ध है और दूसरा बन्धन का[1]। परन्तु समस्त संस्कृत-साहित्य और स्वयं महाभारत इस बात का गवाह है कि एक तीसरा सम्बन्ध भी है। यह प्रेम का सम्बन्ध है। अगर ऐसा न होता तो कमल-पत्र पर विराजमान बलाका (बक-पंक्ति), जो मरकतमणि के पात्र में रखी हुई शंख-शुक्ति के समान शोभ रही है, अकारण मानव हृदय में आनन्दोद्रेक न कर सकती[2]; तथा पर्वत-कन्या जब कहार की गर्मी में जल-वास करती होती, तो दूर से एक-दूसरे को पुकारते चक्रवाक दम्पति के प्रति अन्ततः कृपावती न हो जाती[3]; धान से लहराते हुए मृगांगनाओं से सम्पुष्पित और क्रौंच पक्षी के मनोहर निनाद से मुखरित सीमान्त धरा के साथ मनुष्य के चित्त को इतना चंचल न कर सकते[4] और न ऐसी नदियाँ जिनकी काञ्ची क्रौंचों की श्रेणी है जिनका वसनाञ्चल कलहंसों का निनाद है जिनकी साड़ी जलधारा है जिनके कान के आभरण तीरद्रुम के पुष्प हैं जिनका श्रोणी मण्डल जलस्थल का संगम है जिनके उरस्य उन्नत पुलिन हैं जिनकी मुसकान [illegible] है ऐसी नदियों के तट पर ही देवता रमण कर सकते हैं—यह बात ही मनुष्य के मन में आ पाती[5]।

साधारणतः संस्कृत-कवि का वर्णनीय अन्तःपुर धनी और राजवंशीय पुरुषों

१ भक्षाय क्रीडनार्थं वा नरा वाञ्छन्ति पक्षिणम्।
तृतीयो नास्ति संयोगो वधबन्धादृते क्षम।—म॰भा॰ शान्तिपर्व, १३६ ६०

२ उअ णिच्चल णिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मल मरगअ भाअण परिट्ठिआ संख सुत्ति व्व।।—हाल सतसई, १ ४

३ निनाय सात्यन्त हिमोत्किरानिला सहस्य रात्रीरुदवास तत्परा।
परस्पराक्रन्दिनि चक्रवाकयोर्मिथो वियुक्ते मिथुने कृपावती।
—कुमारसम्भव, ५ २६

४ प्रभूतशालिप्रसवैश्चितानि मृगांगनायूथविभूषितानि।
मनोहर क्रौंचनिनादितानि सीमान्तराण्युत्सुकयन्ति चेतः।
—ऋतुसंहार ३

५ क्रौंचकाञ्चीकलापाश्च कलहंस कलस्वना।
नद्यस्तोयांशुकास्तत्र शफरीकृतमेखला

का ही होना था क्योंकि सस्कृत काव्य नाटक आख्यायिका आदि के नायक और नायिकाएँ प्रख्यातवशीय और धनाढय हुआ करती थी । इसीलिए सस्कृत काव्यो के अ त पुर का ठाट बाट बहुत ही विपुल और चित्ताकषक है । इन अन्त पुरा और इनम रहने वाली अ त पुरिकाओ का वणन सस्कृत कवि बडी शान शौकत के साथ करता है । अ त पुर के पक्षिया के विषय म अध्ययन आरम्भ करने के पहले अन्त पुर की बनावट समझ लेना बहुत जरूरी है । प्रत्यक धनाढय नागरिक के घर के साथ उसका अ त पुर रहा करता था जहा बडे कडे पहरे की व्यवस्था रहती थी । अ त पुर स लगी हुई एक वक्ष-वाटिका (या गह-उपवन) हुआ करती थी । इसके बीच म एक दीर्घिका या तालाब की व्यवस्था रहती थी । इस वाटिका म फलदार वक्षा के सिवा पुष्पा और लता कुजो की भी व्यवस्था रहा करती थी । गह स्वामिनी अपनी रधनशाला क काम लायक तरकारिया भी इसी वाटिका के एक अश म उत्पन्न कर लिया करती था । वात्स्यायन के[1] कामसूत्र (पृ० २२८) म बताया गया है कि वह इस स्थान पर मूलक (मूली), आलुक (कन्द आदि) पलकी (पालक) दमनक (दवना) आम्रातक (आमडा) ऐर्वारुक (फूटी) त्रपुष (खीरा), वार्त्ताक (बगन) कुष्माण्ड (सफेद कुमडे) अलाबु (कद्दू) सूरण (सूरन) शुकनासा (अगस्ता) स्वयगुप्ता (कँवाछ), तिल, पणिका (शाक) अग्निमथ (?) लशुन पलाण्डु (प्याज) आदि साग भाजी बोती थी । इस सूची स जान पडता है कि भारतवष आज से दो हजार वष पहले जो साग भाजिया खाता था वे अब भी बहुत परिवर्तित नही हुई हैं । इन साग भाजिया के साथ य मसाले भी गहदेविया स्वय तयार कर लती थी —जीरा सरसो जवायन सौंफ तेजपात आदि । वाटिका के दूसरे भाग म कुब्जक (=मालती ?) आमलक (?) मल्लिका (बेला), जाती (मालती और भावप्रकाश के मत स चमेली), कुरण्टक (कटसरया), नवमालिका तगर जपा आदि के पुष्पा के गुल्म भी लगाया करती थीं (पृ० ३२५) । वक्षवाटिका के अन्तिम (बाहरी) किनारे पर बड छायादार

फुल्लतीरद्रुमोत्त सा सगमश्रोणिमण्डला
पुलिनाम्बु नतोरस्या हसहासाश्च निम्नगा ।
वनोपान्त नदीशलनिझरोपान्त भूमिषु ।
रमन्ते देवता नित्य पुरेषूद्यान वत्सु च । —बृहत्सहिता ५ ६—८

१ इस लेख मे सवत्र चौखम्बा सीरीज मे छपे कामसूत्र की पष्ठ सख्याएँ दी हुई हैं।

वृक्ष—जग प्रगोर, मरिष्ट, पुन्नाग शिरीष आदि—लगाये जाते थे। बृहत्संहिता (५५ ९) में बताया गया है कि ये वृक्ष मांगल्य होते हैं इसलिए इनको घर या उद्यान के पूर्व भाग में रोपण करना चाहिए। उद्यान के बीचोबीच गृह दीर्घिका या तालाब रहा करता था। इन तालाबों में नाना प्रकार के जल पक्षियों का रहना मंगलजनक समझा जाता था। इनमें कृत्रिम भाव से कमलिनी या नलिनी (पत्र पुष्प-सहित कमल वृक्ष) उत्पन्न की जाती थी। वराहमिहिर ने बृहत्संहिता (५६ ४७) में लिखा है[1] कि जिस सरोवर में नलिनी-रूप छत्र से सूर्य किरणें निरस्त होती हैं हंस के कन्धों से धकेली हुई लहरियाँ कह्लारों से टकराती हैं हंस कारण्डव क्रौंच और चक्रवाकगण कल निनाद करते रहते हैं और जिसके तटान्त की वेत्र वन छाया में जलचारी पक्षी विश्राम करते हैं, ऐसे सरोवर के निकट देवतागण प्रसन्न भाव से विराजते हैं। इन वापिकाओं में विविध पक्षियों के निवास का नाना भाँति से कवियों ने वर्णन किया है। इन्हीं वाटिकाओं में वात्स्यायन ने लिखा है कि सघन छाया में प्रेङ्खा—दोला या झूला लगाया जाता था इन्हीं में पत्थर की स्थंडिल पीठिकाएँ (बैठने के आसन) बनाये जाते थे और उन पर सुकुमार पुष्प-स्तर बिछा दिये जाते थे (पृ० ४५)। भवन-दीर्घिका के एक पार्श्व में क्रीडा-पर्वत हुआ करते थे जिनके इर्द गिर्द मयूर मँडराते रहते थे। यहीं अन्तःपुरिकाएँ नाना भाँति की विलास लीलाएँ करती थीं। दीर्घिका में और अन्यत्र धारायंत्र या फव्वारे बने होते थे जिनमें कभी जलदेवताओं के और कभी हंस मिथुन या चक्रवाक मिथुन के जोड़े बने होते थे जो जल धारा को उच्छ्वसित करते रहते थे। अलकापुरी में मेघदूत की यक्षिणी के अन्तःपुर में एक ऐसी ही वाटिका थी जिसमें यक्षप्रिया ने एक छोटे से मंदार वृक्ष को—जिसके पुष्पस्तवक हाथ की पहुँच के भीतर ही थे—पुत्रवत् पाल रखा था।[2] इस उद्यान में मरकत मणियों की सीढ़ीवाली एक

---

१ सरः सुनलिनीच्छत्र निरस्त रविरश्मिषु ॥
हंसांसाक्षिप्त कह्लार वीची विमल वारिषु।
हंस कारण्डव क्रौंच चक्रवाक विराविषु।
पर्यन्त निचुलच्छाया विश्रान्त जलचारिषु ॥

२ तत्रागारं धनपतिगृहादुत्तरेणास्मदीयं।
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा तोरणेन।
यस्योपान्ते कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे।
हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥ ८०

वापी थी, जिसमे वडूयमणि के बने हुए नालों पर हेम-पद्म प्रस्फुटित हो रहे थे और हंस विचरण कर रहे थे।[1] इसी वापी के तीर पर एक क्रीडा-पर्वत था। वह इन्द्रनीलमणि से निर्मित था और कनक कदली से वेष्टित था। वाटिका के मध्य भाग में रक्त अशोक और बकुल के वृक्ष थे—एक प्रिया के पदाघात से और दूसरा वदन-मदिरा से उत्फुल्ल होने की आकांक्षा रखता था।[2] इनका घेरा कुरवक या पियावसा की झाडियों का था। ठीक बीच में एक सोने की वास यष्टि पर स्फटिक की पीठी थी जिस पर यक्ष प्रिया का वह मयूर बैठा करता था, जिसे वह अपनी चूडियों की मंजु ध्वनि से नचाया करती थी।[3] बहुत भीतर जाने पर यक्ष प्रिया के शयन कक्ष के पास पिंजडे में मधुरभाषिणी सारिका थी जिससे शायद वह अपने प्रिय के विषय में पूछा करती थी।[4] बाणभट्ट की कादंबरी में अंतःपुर के भीतर का बडा ही रसमय और जीवंत वर्णन है। उस वर्णन से जान पडता है कि कादम्बरी की विविध परिचारिकाएँ किन कार्यों में व्यस्त थीं। वस्तुतः समस्त संस्कृत साहित्य में अंतःपुर वर्णन के प्रसंग में इन बातों का अत्यधिक विस्तार रहता है। अन्तःपुर के सबसे भीतरी हिस्से में कोई लवलिका केतकी (केवड़े) की धूलि से लवली (हरफारेवरी) के आलवालों को सजा रही थी। कोई सागरिका गंध-जल की वापियों में रत्न बालुका निक्षेप कर रही थी कोई मणालिका कृत्रिम कमलिनियों के यन्त्र

१ वापी चास्मिन मरकतशिलाबद्ध सोपानमार्गा
हेम स्फीता विकच कमलर्दीघ वडूर्यनाल
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानस सति कृष्ट।
नध्यास्यन्ति व्यपगत शुचस्त्वामपि प्राप्य हंसा। ८१

२ रक्ताशोकश्चल किसलय केसरश्चात्र कान्त
प्रत्यासन्नौ कुरवक वृते माधवीमण्डपस्य।
एक सख्यास्तव सहमया वामपादाभिलाषी
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरा दौहृदच्छद्मनास्या। ८६

३ तन्मध्ये च स्फटिक फलका काञ्चनीवास यष्टि—
मूले बद्धा मणिभिरनति प्रौढवश प्रकाश।
ताल शिंजद्वलय सुभग कान्तया नर्तितो मे।
याम यास्ते दिवस विगमे नीलकण्ठ सुहृद व। ८७

४ पृच्छन्तीं वा मधुरवचना सारिका पंजरस्थों
कच्चिद् भर्तु स्मरसि रसिके त्व हि तस्य प्रियेति।

चक्रवाकों के ऊपर कुंकुम रेणु फेंक रही थी कोई मकरिका कर्पूर-पल्लव के रस से गंध-पात्रों को सुवासित कर रही थी कोई रजनिका तमाल वीथिका के अधकार में मणि प्रदीपों को रख रही थी कोई कुमुदिनिका पक्षियों के निवारण के लिए दाडिमी फलों को मुक्ताजाल से प्रच्छन्न कर रही थी कोई निपुणिका मणि की पुतलियों के वक्ष स्थल पर कुंकुम रस से चित्रकारी कर रही थी कोई उत्पलिका कदली-गृह की मरकत-वेदिकाओं को सोने की समार्जनी (झाड़ू) से साफ कर रही थी, कोई केसरिका बकुल-कुसुम माला गृहों को मदिरा रस से सींच रही थी और कोई मालतिका कामदेवगृह की हाथीदाँत की वलभिका (मण्डप) को सिंदूर रेणु से पाटलित कर रही थी। ये सारी बातें ऐसी हैं जिनका अर्थ दरिद्र लेखनी धारियों की समझ में नहीं आ सकता। हम केवल आँख फाड़कर देखते हैं कि मधुमक्खियों के छत्ते से भी अधिक व्यस्त दिखने वाले इस अन्त पुर के व्यापारों का अर्थ क्या है? पर कुछ समझ में आने लायक बातें भी हैं। वहाँ कोई नलिनिका भवन के कल हंसों को कमल मधुरस पान कराने जा रही थी, कोई कदलिका मयूरों को धारा-गृह या फव्वारों के पास ले जा रही था—शायद नचाने के लिए!—कोई कमलिनिका चक्रवाक शावकों को मृणाल क्षीर रस दे रही थी कोई कोकिला को आम्रमंजरी का अंकुर खिलाने में लगी थी, कोई पल्लविका मरिच (काली मिर्च) के कोमल किसलयों को चुन चुनकर भवन हारीतों को खिला रही थी कोई लवंगिका चकोरों के पिंजड़ों में पिप्पली के मुलायम पत्ते निक्षेप कर रही थी कोई मधुरिका पुष्पों के आभरण बना रही थी और इस प्रकार सारा अन्त पुर पक्षियों की सेवा में व्यस्त था। सबसे भीतर वचनमुखरा सारिका (मैना) थी और विदग्ध शुक था जिनके प्रणय-कलह की शिक्षा पूरी हो चुकी थी और चंद्रापीड के सामने अपना वैदग्ध्य विलास प्रकट करके जिस सारिका ने कादम्बरी के अधरों पर लज्जायुक्त मुसकान की एक हल्की रेखा प्रकट कर दी थी![1]

---

१ कादम्बरी पृ० ३३५ और आगे। इस लेख में सर्वत्र निर्णय सागर प्रेस (षष्ठ संस्करण १९२१) की कादम्बरी से उद्धरण दिये गये हैं।

अपभ्रंश का रसात्मक साहित्य

अपभ्रंश भाषा का नाम तो बहुत पहले से सुना जाता रहा है पर बहुत काल तक इसके साहित्य की जानकारी कम ही थी। सन ईसवी की बीसवीं शताब्दी में ही इस भाषा के विस्तृत साहित्य का विशेष रूप से उद्धार हुआ है। सन १८७३ ई० में सुप्रसिद्ध भाषा शास्त्री जर्मन पण्डित पिशेल ने 'प्राकृत भाषा का व्याकरण (ग्रामटिक डेर प्राकृत स्प्राखेन) लिखा था जिसमें हेमचन्द्राचार्य के प्राकृत-व्याकरण का बहुत अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया था। अब भी यह पुस्तक प्राकृत भाषा के अध्ययन के लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण बनी हुई है जितनी उस समय थी। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण के अन्त में अपभ्रंश भाषा का व्याकरण दिया है और उदाहरण बताने के लिए ऐसे दोहे उद्धृत किए हैं जिनमें अभीष्ट नियमों के निर्देशक पद आए हैं। पिशेल ने अन्य प्राकृतों के साथ अपभ्रंश का भी विवेचन किया था। बहुत बाद में, सन १९०२ ई० में उन्होंने केवल अपभ्रंश व्याकरण और साहित्य के लिए ही एक अलग पुस्तक लिखी। भामह और दण्डी (७वीं शताब्दी) के समय में अपभ्रंश का साहित्य वर्तमान था यह सभी जानते हैं। बाद के रुद्रट राजशेखर भोज आदि अलंकार शास्त्रियों ने अपभ्रंश भाषा की चर्चा की है। इसलिए पिशेल यह तो समझ ही गए थे कि इस देश में किसी समय अपभ्रंश का विशाल साहित्य विद्यमान था इसीलिए उन्होंने तत्कालीन उपलब्ध साहित्य में से अपभ्रंश की रचनाओं को ढूंढ़ने का बहुत अच्छा प्रयास किया। हेमचन्द्र के व्याकरण में उदाहरणार्थ जो दोहे उद्धृत किए गए हैं उनके अतिरिक्त विक्रमोर्वशीय सरस्वतीकण्ठाभरण सिंहासनद्वात्रिंशतिका वेतालपंचविंशति प्रबन्धचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में उपलब्ध बिखरी १

का भी उन्होंने संकलन किया। सन १६०२ में 'माटेरियलियेन त्सुर केन्टनिस डेस अपभ्रंश' नामक जिस ग्रन्थ में इन अपभ्रंश सामग्रियों का विवेचन किया गया था उसे उन्होंने अपने मूल प्राकृत व्याकरण का परिशिष्ट कहा था। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि कहे जा सकते हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व क्षमता को देखकर आश्चर्य के साथ कहा है कि यह विद्वान कहीं पाणिनिसम्मत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था। मुनिजी ने कई अपभ्रंश और प्राकृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सम्पादन किया है। 'पउमसिरि चरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य की भूमिका में उन्होंने अपभ्रंश के नवोपलब्ध साहित्य के प्रकाश में आने की मनोरंजक घटना का विवरण दिया है। निस्सन्देह अपभ्रंश साहित्य के नये सिरे से विपुल मात्रा में प्राप्त होने की सूचना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उल्लासवर्द्धक घटना है। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास बना रहा कि पिशेल ने अपभ्रंश साहित्य का जो परिचय दिया है उससे अधिक अब प्राप्त नहीं है। सन १६१३-१४ ई० में हरमन याकोबी नामक जैनशास्त्रमर्मज्ञ जर्मन पण्डित इस देश में आए। जब वे अहमदाबाद के जैन ग्रन्थ भांडार का निरीक्षण कर रहे थे उसी समय एक जैन साधु के पास उन्हें 'भविसयत्त कहा' नामक काव्य देखने को मिला। इसे प्राकृत में ही लिखा समझा गया था। पर जब याकोबी ने उसे देखा तो उल्लास से फड़क उठे। यह वस्तुतः अपभ्रंश का काव्य था। इन्हें ही राजकोट में एक अन्य जैनमुनि से 'नेमिनाह चरिउ' भी प्राप्त हुआ। 'भविसयत्त कहा' की प्रतिलिपि और फोटो प्राप्त करने में याकोबी को बड़ी कठिनाई हुई थी। वे दृढ़व्रती थे। इन ग्रन्थों की प्रतिलिपि लेकर वे अपने देश को चले गए। तब तक योरोपीय प्रथम महायुद्ध का बिगुल बज गया। इन ग्रन्थों के प्रकाशन का काम बन्द हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद ही सन १६१८ ई० में याकोबी द्वारा सम्पादित 'भविसयत्त कहा' का प्रकाशन हो सका। तीन वर्ष बाद 'नेमिनाह चरिउ' की एक अन्तःकथा 'सणक्कुमार चरिउ' का याकोबी द्वारा सम्पादित रूप प्रकाशित हुआ। उधर युद्ध के धुएँ से याकोबी का परिश्रम आच्छादित हो रहा था इधर बड़ौदा के महाराज सर सयाजीराव गायकवाड़ की आज्ञा से सन १६१४ ई० में श्री चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटण के सुप्रसिद्ध जैन भाण्डार की जाँच की और कई पुस्तकें ऐसी प्राप्त कीं जो अपभ्रंश भाषा में लिखी गई थीं। मदनरास, वज्र स्वामि चरित, अन्तरंग-सन्धि, चौरंगसन्धि, सुलसाख्यान, चच्चरी, भावनासार, परमात्मप्रकाश, आराधना, मयणरेहा सन्धि

नमया सुंदरी संधि भविसयत्त कहा, पउमसिरि चरिउ आदि ग्रंथ इसी समय मिले। इनमें से कई एक अब प्रकाशित हो गए हैं। श्री दलाल ने भविसयत्त कहा का सम्पादन भी आरम्भ किया, लेकिन अचानक सन १६१८ ई० में उनका स्वर्गवास हो गया। बाद में स्व० पाण्डुरंग गुणे ने इसे पूरा किया। यह संस्करण भी बड़ौदा से प्रकाशित हो गया है। बहुतेरे ग्रंथ भाण्डारों में अपभ्रंश की रचनाओं को प्राकृत मान लिया गया था। सन १६१८ ई० में जब भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट की स्थापना हुई और डेकन कॉलेज में सुरक्षित हस्तलेख उसमें स्थानान्तरित किए गए तो सुप्रसिद्ध विद्वान मुनि जिनविजयजी को उन हस्तलेखों के परीक्षण का अवसर मिला। उस समय अनेक महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश ग्रंथों का पता लगा। पुष्पदंत कवि का 'तिसटठि लक्खण महापुराण', स्वयंभू का पउम चरिउ, हरिवंश महापुराण आदि बहुमूल्य ग्रंथ प्राप्त हुए। स्व० पं० नाथूरामजी प्रेमी ने बाद में जसहर चरिउ और कुमार चरिउ नामक दो अपभ्रंश ग्रन्थों का सन्धान बताया। प्रो० डॉ० हीरालाल जैन ने कारंजा के भण्डार से करकंडु चरिउ', सावय धम्म दोहा पाहुड दोहा आदि महत्त्वपूर्ण ग्रंथों को खोज निकाला। फिर तो विभिन्न शोध-प्रेमियों ने परिश्रम से अपभ्रंश साहित्य के विपुल भण्डार के अनेक ग्रंथरत्नों का अनुसंधान संपादन और व्याख्या की जिनमें श्री मुनि जिनविजयजी आदिनाथ उपाध्य हीरालाल जैन परशुराम लक्ष्मण वैद्य राहुल सांकृत्यायन हरिवल्लभ भायाणी आदि उल्लेख्य हैं।

अभी तक जिस साहित्य की चर्चा की गई है वह जैन स्रोतों से प्राप्त हुआ साहित्य है। स्वभावतः इनमें अधिकांश जैन कवियों की रचनाएँ हैं। एकमात्र अपवाद सन्देश रासक है जो किसी अद्दहमाण नामक जुलाहे कवि का लिखा हुआ 'रासक सनक' खण्डकाव्य है। उसका प्रतिपाद्य विषय ऐहिक रस या लौकिक शृंगार रस है शृंगार रस में भी विप्रलंभ। बाकी जैन कवियों की रचनाएँ हैं। ऐसा तो नहीं है कि उनमें ऐहिक रस हो ही नहीं पर मुख्य लक्ष्य जैन धर्मसम्मत किसी जीवनोद्देश्य का प्रचार है। निस्सन्देह उसको बहाना बनाकर उत्तम रसपरक साहित्य इसमें मिल जाता है। जैन रचनाओं में संगृहीत कविताएँ ऐसी भी हैं जो विशुद्ध लौकिक शृंगार या नीति विषयक हैं। वे आभास देती हैं कि बहुत बड़ा साहित्य इस श्रेणी का भी रहा होगा। प्रबन्ध चिन्तामणि, प्रबन्धकोश' पुरातन प्रबन्ध-संग्रह आदि में शृंगार रस के बहुत सुन्दर मुक्तक प्राप्त होते हैं और स्वयं हेमचन्द्र के व्याकरण में उच्च कोटि के शृंगारी दोहे उदाहृत हुए हैं।

जैनेतर सम्प्रदायों के अपभ्रंश-काव्य नाना कारणों से सुरक्षित नहीं रह सके

का भी उद्धरण संकलन किया। सन १६०२ में माटरियलियन में सुर कंटनिस इस अपभ्रंश नामक जिस ग्रंथ में इन अपभ्रंश सामग्रियों का विवेचन किया गया था उसे उन्होंने अपने मूल प्राकृत व्याकरण का परिशिष्ट कहा था। इसके बाद उनका स्वर्गवास हो गया। पिशेल अपभ्रंश के पाणिनि कहे जा सकते हैं। सुप्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयजी ने इस पण्डित की अपूर्व क्षमता को देखकर आश्चर्य के साथ कहा है कि यह विद्वान् कहीं पाणिनिसमत आपिशल नामक वैयाकरण का पुनरवतार तो नहीं था। मुनिजी ने कई अपभ्रंश और प्राकृत के महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का संपादन किया है। पउमसिरि चरिउ नामक अपभ्रंश काव्य की भूमिका में उन्होंने अपभ्रंश के नवोपलब्ध साहित्य के प्रकाश में आने की मनोरंजक घटना का विवरण दिया है। निस्सन्देह अपभ्रंश साहित्य के नये सिरे से विपुल मात्रा में प्राप्त होने की सूचना हमारे देश के साहित्यिक इतिहास में बहुत ही महत्त्वपूर्ण और उत्साहवर्द्धक घटना है। बहुत दिनों तक लोगों का यह विश्वास बना रहा कि पिशल ने अपभ्रंश साहित्य का जो परिचय दिया है उससे अधिक अब प्राप्त नहीं है। सन १६१३ १४ ई० में हरमन याकोबी नामक जगत्प्रसिद्ध जर्मन पण्डित इस देश में आए। जब वे अहमदाबाद के जैन ग्रंथ भांडार का निरीक्षण कर रहे थे उसी समय एक जैन साधु के पास उन्हें 'भविसयत्त कहा' नामक काव्य देखने को मिला। इसे प्राकृत में ही लिखा समझा गया था। पर जब याकोबी ने उसे देखा तो उल्लास से फड़क उठे। यह वस्तुतः अपभ्रंश का काव्य था। इन्हीं राजकोट में एक ग्रंथ जैनमुनि से नेमिनाह चरिउ भी प्राप्त हुआ। भविसयत्त कहा की प्रतिलिपि और फोटो प्राप्त करने में याकोबी को बड़ी कठिनाई हुई थी। वे हृदयनी थे। इन ग्रंथों की प्रतिलिपि लेकर वे भारत से घर गए। तब तक योरोपीय प्रथम महायुद्ध का बिगुल बज गया। इन ग्रंथों के प्रकाशन का काम बन्द हो गया। युद्ध समाप्ति के बाद हो सन १६१८ ई० में याकोबी द्वारा संपादित भविसयत्त कहा का प्रकाशन हो सका। तीन वर्ष बाद नेमिनाह चरिउ का एक अन्तःकथा सणकुमार चरिउ का याकोबी द्वारा संपादित रूप प्रकाशित हुआ। उधर युद्ध के युग में याकोबी का परिश्रम प्रकाशित हो रहा था इधर बड़ौदा के महाराज सर सयाजीराव गायकवाड़ की आज्ञा से सन १६१४ ई० में स्वर्गीय चिमनलाल डाह्याभाई दलाल ने पाटन के सुप्रसिद्ध जैन भण्डार की जाँच की और कई पुस्तकें ऐसी प्राप्त कीं जो अपभ्रंश भाषा में लिखी गई थीं। भविसयत्त, कहा स्वामि चरित संजमरायमंधि, चौरसंधि सुलसाख्यान चर्चरी भावनासार पाइयलच्छिप्रकाश आराधना, प्रमाणप्रमा आदि

की रचनाएँ ही अधिक हैं। इन जन रचनाओं म प्रधानता चरित काव्यों की है। इन कवियो न पुराण, चरित और काव्य म बहुत भेद नही किया है। जन लोगो न ६३ महापुरुषो का गुणगान किया है। इन्हें त्रिषष्टि शलाका

(८)पद्मकीर्ति का पासुपुराण	११वीं शती
(९)सागरदत्त का स्वामि चरिउ	११वीं शती
(१०)विबुधश्री का पासु चरिउ	१२वीं शती
(११)हरिभद्रसूरि का णेमिणाह चरिउ	१२वीं शती
(१२)सिद्धसेन (साधारण) की विलासमवई कहा	१२वीं शती
(१३)मुनि कनकामर का करकंडु चरिउ	१२वीं शती
(१४)रइधू का पज्जुण्ण चरिउ (प्रद्युम्न चरित)	१२वीं शती
(१५)लक्ष्मण कवि का जिणदत्त चरिउ	१३वीं शती
(१६)धम सूरि का जम्बू सामि रास	१३वीं शती
(१७)विनय धम सरि का नेमिनाथ चउपई	१३वीं शती
(१७)भट्टारक यश कीर्ति के पाण्डव पुराण	
(१८)चदप्पह चरिउ	१४वीं शती
(१९)जिन प्रभ सूरि के मल्लिनाथ चरिउ	
(२०) नेमिनाथ जम्माभियक	
(२१)धनपाल का बाहुबली चरिउ	१५वीं शती
(२२)शम्भुकीर्ति का सान्तिणाह चरिउ	१५वीं शती
(२३)रइधू के मेहेसर चरिउ (२४) पदमपुराण	१५वीं शती
(२५) सिद्ध चक्क माहात्म्य (२६) करकंडु चरिउ	१५वीं शती
(२७) जयकुमार चरिउ (२८) जिनदत्त चरिउ	
(२९) बलभद्र चरित इत्यादि	१५वीं शती
(३०)तेजपाल का सम्भवणाह चरिउ	
(३१)माणिक्यराज का णायकुमार चरिउ	१६वीं शती
(३२)महीन्दु का सान्तिणाह चरिउ	१६वीं शती
(३३)जयमित्र हल्ल का वड्ढमाण कव्वु	१६वीं शती
(३४)दामोदर का चन्दप्पह चरिउ	
(३५)ब्रह्मदेव सेन का जय कुमार चरिउ	
(३६) मन्नरेखा चरिउ (१४वीं शती)	१६वीं शती
(३६)धवल का पउमसिरि चरिउ इत्यादि	

पुरुष' कहा है। इनमें २४ तीर्थंकर हैं १२ चक्रवर्ती हैं ९ बलदेव हैं ९ वासुदेव हैं और ९ प्रतिवासुदेव। इन्हीं में से किसी एक को लेकर लिखा हुआ काव्य चरित कहलाता है और सबकी चर्चा करनेवाला काव्य महापुराण कहलाता है। पुष्पदन्त की एक रचना का नाम 'महापुराण' भी है और तिसट्ठि-महापुरिस गुणालंकार' भी। पद्मचरित 'राम की कथा है और हरिवंश पुराण, कृष्ण की। श्री हरिवल्लभ भायाणी ने 'पउमसिरि चरिउ' की भूमिका में लिखा है कि स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित काव्यों में बहुत अंतर नहीं है। पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार बहुत अधिक होने से संधियों की संख्या पचास से सवा सौ तक होती है जबकि चरित काव्यों में विषय विस्तार बहुत मर्यादित होता है जिससे संधि-संख्या बहुत अधिक नहीं होती। शेष बातों में—जैसे संधि कडवक, तुक, पक्तियुगल, आदि का दोनों में कोई भेद नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि सभी चरित काव्य कडवक-बद्ध ही हों। हरिभद्रकृत 'णेमिणाह चरिउ' आद्योपांत रड्डा छन्द में है। सो पुराण, चरित और काव्य सभी प्रसिद्ध पौराणिक चरितों को आश्रित करके लिखे चरित काव्य ही हैं। कथा अवश्य इनसे थोड़ा बाहर पड़ती है पर सदा नहीं। जैन अपभ्रंश काव्यों में कुछ ऐसी कथाएँ हैं जो किसी वणिक कुमार या कुमारी के जीवन पर लिखी प्रेमगाथा की कोटि में आती हैं परन्तु उद्देश्य उनका भी पाठकों को जैन धर्म की ओर आकृष्ट करना होता है। इन सब को हम प्रबंध-काव्य जैसा सामान्य नाम दे सकते हैं। इनमें मानवीय गुणों की, उसकी आशा आकांक्षाओं की राग विरागों की सबल अभिव्यक्ति तो हुई है पर सब कुछ अंत में वैराग्य प्रवण धर्म की ओर उन्मुख होने का साधन बन जाते हैं। इस प्रकार के जैन प्रबंध-काव्य तीन दर्जन से ऊपर प्राप्त हो चुके हैं और अब भी बहुत-से भाण्डारों में अज्ञात पड़े हुए हैं। इनके रचयिताओं में सर्वश्रेष्ठ हैं—स्वयंभू और पुष्पदंत, तथापि स्वयंभू।

धर्म के गूढ़ तत्त्वों को सामान्य जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य से मध्यकाल में ब्राह्मणों और जैनों द्वारा पुराण साहित्य की रचना हुई थी। जैन पुराण संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश—इन तीनों भाषाओं में लिखे गए हैं। पुराण-साहित्य में उत्तम कवित्व बिखरा हुआ है। पर वहाँ मनुष्य के दुःख-सुख, राग विराग सफलता असफलता को उद्देश्य विशेष के अधीन होना पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि समूचा कवि-कर्म पौराणिक मूल उद्देश्य का साधन बन जाता है और सुकाव नियोजित मानवीय व्यापार अन्त तक हतप्रभ और निश्चित हो जाता है। आरंभ में उसमें जितना तेज रहता है वह क्रमशः पौराणिक रूढ़ियों

हैं (पर तत्त्व की बात समभन का प्रयत्न नही करत) यह उसी प्रकार का प्रयत्न है जस पके बल के चारो ओर भौंरा चक्कर लगाता रहता है (पर रस नहीं पा सकता)।

आगम वेअ-पुराणेहि पडिअ माण वहन्ति
पक्क सिरीफले अलिअ जिम बाहेरीअ भमन्ति।

(कण्हपा)

जोइन्दु कहते हैं—देवालय भी देवता भी शास्त्र भी, गुरु भी तीर्थ भी वेद भी काव्य भी, सब नाशवान हैं। जा भी वृक्ष कुसुमित है वह सब अन्ततोगत्वा इंधन ही हो जाता है —

देउल देउ वि सत्थु गुरु, तित्थु वि वेउ वि कव्वु।
वच्छु जु दीस कुसुमियउ इंधणु होसइ सव्वु॥

(जोइन्दु)

मुनि रामसिंह कहते हैं—बहुत पढ़ता है पर उसम तालू ही सूखता है। अरे मूढ़ काई एक एसा अक्षर क्या नही पढ़ता जिससे तू शिवपुर मे पहुँच सके—

बहुयइँ पढियइँ मूढ पर तालू सुक्कइ जेण।
एक्कु जि अक्खर त पढहु सिवपुरि गम्मइ जेण॥

(मुनि रामसिंह)

इस प्रकार की नानमार्गी वराग्य-व्यंजक रचनाएँ जन और बौद्ध आचार्यों ने काफी मात्रा मे की थी। सब उपलब्ध नही हो सकी पर जितनी भी मिली हैं उनसे इस प्रकार के साहित्य की समृद्धि का पता चलता है और परवर्ती हिंदी साहित्य म जो इस भावधारा का समृद्ध साहित्य उपलब्ध होता है उसका प्रेरणा-स्रोत और विकास क्रम समझना आसान हो जाता है। अपभ्रंश काव्य परपरा का यह एक महत्त्वपूर्ण अग है। पर मैं आपको इसम अधिक देर भटकाना नहीं चाहता। अब हम अपभ्रश के रसात्मक साहित्य की चर्चा करेंगे।

अपभ्रश-ग्रन्थो के प्रकाशन म अनेक साहित्यिक रहस्य स्पष्ट हुए हैं। जब जब कोई जाति नवीन जातियों के सपर्क म आती है तब-तब उसम नई चेतना के लक्षण दिखाई देते हैं। साहित्य में नवीन चेतना काव्यरूपो छन्दो और विषय विन्यास के प्रति दृष्टिकोण म प्रकट होती है। वदिक साहित्य के बाद लौकिक सस्कृत-काव्य की नई चेतना की सूचना श्लोक म मिलती है, प्राकृत की गाथा स और अपभ्रश की दोहा छन्द म। दोहा अपभ्रश का इतना लाडला छन्द है कि किसी समय अपभ्रश काव्य को दोहा बध या दूहाविद्या कहने का

प्रथा चल पडी थी। प्रबध चिन्तामणि म दो वदीजनो को दूहा विद्या मे विवाद करते हुए कहा गया है। दूहा विद्या अर्थात अपभ्र श काव्य। माइल्ल धवल नामक कवि ने दव्वसहावपयास (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) को पहले दोहा वध म देखा था। लोग उसका उपहास करते थे। अपभ्र श गवारू भाषा जो ठहरी। यह देखकर कवि माइल्ल धवल न उसे गाहाबध (गाथाबध) मे परिवर्तित किया—

'दव्वसहाव पयास दोहयबधेण आसि ज दिट्ठ।
त गाहाबधण य रइय माइल्ल धवलेण।

गाहाबध की यह भाषा प्राकृत है। कहने का मतलब यह कि दोहा छद अप भ्र श मे इतना प्रचलित था कि लोग छद और भाषा को एकमेक करक देखने लगे थे। कब यह सहज मनोहर छद भाषा काव्य म आ गया, यह कहना कठिन है। इसका सबसे पुराना प्रयोग कालिदास के विक्रमोवशीय नाटक म मिलता है। राजा पुरूरवा प्रिया विरह मे याकुल जगत म घूम रहा है। वह उन्मत्त है राजोचित मर्यादा की बात भूल जाता है। नियम-शास्त्र स राजा को सस्कृत म ही बोलना चाहिए ऐसा नाटयशास्त्री आचार्यों का कठोर निर्देश है। इस नियम की अवहेलना केवल पागल ही कर सकता है। राजा पुरूरवा सचमुच पागल हो गया था। वह सस्कृत छोडकर प्राकृत म बोलता है, कभी कभी अपभ्रश मे भी। अपभ्रश जब बोलता है तो अनायास यह दोहा उसक मुह से निकल पडता है—

मइ जाणिअ मिअलोयणी णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णवतडि सामलो धाराहरु वरिसेइ।

इस ब्रजभाषा का दोहा बनाने म बहुत थोडा ही आयास करना पडेगा—

मैं जान्यो मगलोचनिहि निसिचरि कोइ हरेइ।
जौं लौं न नव तडि श्यामल धाराधर बरसेइ॥

कुछ लोग अपभ्रश के इन पद्यो को प्रक्षिप्त मानते हैं। यदि कालिदास का काल सन ईसवी की पाँचवीं छठी शताब्दी हो तो यह मानन म कोई विशेष आपत्ति नहीं है कि उस समय दोहा छन्द प्रचलित था। छठ दो सौ वष बाद क तो दोहाबध के ग्रथ भी मिलन लगत हैं। यदि जगल म प्रियाविरह की चपट स विक्षिप्त राजा द्वारा कवि न तत्काल प्रचलित ग्राम्य छन्द म प्रलाप करा दिया तो इसम अचरज की क्या बात है? जो लोग क लिदास का समय और भी पुराना मानत हैं उन्ह जरूर कठोर आपत्ति होगी। व यदि चाह तो इन और अन्य अपभ्रश पद्यो का प्रक्षिप्त मानकर सतोष कर सकत हैं। मुझ

तो इस समाचार से प्रसन्नता ही हो रही है कि कालिदास को यह छन्द मालूम था और अपनी पीयूषवर्षी लेखनी से उन्होंने इस छन्द को धन्य किया था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कालिदास इस छन्द में रचना करने का लोभ न सँवरण कर सके और मौका और बहाना खोजकर कुछ लिख ही दिया। जो भी हो आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले यह छन्द खूब प्रचलित हो गया था।

कुछ पश्चिमी विद्वानों ने यह बताया है कि किसी समय यवन के ग्रीक सैनिकों में होमर की कविताओं का प्रचार था। उन्हीं लोगों ने या उनके संपर्क में आए आभीर आदि ने ग्रीक हेक्सामीटर की तौल पर भारतीय जनभाषा में यह दोहा छन्द बना लिया था। पर यह बात कल्पना की उड़ान मात्र की सूचना देती है। किसी ठोस प्रमाण पर इस मत की पुष्टि नहीं हुई।

अब तक हमने जैन और बौद्ध साधुओं और साधकों की रचनाओं की चर्चा की है। स्वभावतः उनमें धार्मिक पुट है, वैराग्य की ओर झुकाव है, तत्त्वदर्शन का स्पष्ट करने की प्रवृत्ति है और भिन्न मतावलंबियों का उपहास करने का प्रयास है। परन्तु लोक-जीवन के सरस हृदयों को बिना किसी धार्मिक आग्रह के प्रकट करने वाला अपभ्रंश-साहित्य बहुत अधिक मात्रा में किसी समय विद्यमान था। दुर्भाग्यवश वह सब सुरक्षित नहीं रह सका। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में सब जगह तो व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिए एक-दो पदों को निदर्शन रूप में निकालकर चलता कर दिया गया है परन्तु अपभ्रंश के प्रकरण में वैयाकरण की कंजूस बुद्धि का सहारा नहीं लिया गया। नियमों के बनाने में हेमचन्द्राचार्य ने 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' वाले सिद्धांत का ही पालन किया है, पर अपभ्रंश के उदाहरणों में पूरे का पूरा दोहा उद्धृत कर दिया है। वैयाकरणों की दुनिया में निश्चय ही इस फिजूलखर्ची के लिए उन्हें दण्डभागी होना पड़ेगा पर साहित्यिकों के लिए तो वे अमूल्य निधि छोड़ गए हैं। पता नहीं कहाँ-कहाँ से उन्होंने इन बहुमूल्य दोहों का संग्रह किया था। निश्चय ही उनमें कई प्रसिद्ध कवियों की रचनाएँ रही होंगी। इनमें लौकिक जीवन की सहज अभिव्यक्तियों का बड़ा ही मनोरम चित्र मिलता है। जान पड़ता है उन्हें इनके लोप हो जाने का भय था, इसलिए यत्नपूर्वक बचा रखना उनका उद्देश्य था। उन्हें जैन लोग कलिकाल सर्वज्ञ कहते थे। कदाचित् उन्होंने आधुनिक युग के सहृदयों के मनोभाव को दूरदृष्टि से ताड़ लिया था।

यह उन दिनों की बात है जब संस्कृत का साहित्य माघ, भारवि और हर्ष के वाग्वैभव का आस्वादन कर रहा था। वचन-वक्रिमा, अलंकरण-चातुरी

प्रथा चल पड़ी थी। प्रबंध चिंतामणि में दो बंदीजनों को दूहा विद्या में विवाद करते हुए कहा गया है। दूहा विद्या अर्थात् अपभ्रंश काव्य। माइल्ल धवल नामक कवि ने दव्वसहावपयास (द्रव्य स्वभाव प्रकाश) को पहले दोहा बंध में देखा था। लोग उसका उपहास करते थे। अपभ्रंश गवारू भाषा जो ठहरी। यह देखकर कवि माइल्ल धवल ने उसे गाहाबंध (गाथाबंध) में परिवर्तित किया—

'दव्वसहाव पयास दोहयबंधेण आसि जं दिट्ठं।
तं गाहाबंधेण य रइयं माइल्ल धवलेण।

गाहाबंध की यह भाषा प्राकृत है। कहने का मतलब यह कि दोहा छंद अपभ्रंश में इतना प्रचलित था कि लोग छंद और भाषा को एकमेव करके देखने लगे थे। कब यह सहज मनोहर छंद भाषा काव्य में आ गया यह कहना कठिन है। इसका सबसे पुराना प्रयोग कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक में मिलता है। राजा पुरूरवा प्रिया विरह में व्याकुल जंगल में घूम रहा है। वह उन्मत्त है राजोचित मर्यादा की बात भूल जाता है। नियम-कायदे से राजा को संस्कृत में ही बोलना चाहिए ऐसा नाट्यशास्त्री आचार्यों का कठोर निर्देश है। इस नियम की अवहेलना केवल पागल ही कर सकता है। राजा पुरूरवा सचमुच पागल हो गया था। वह संस्कृत छोड़कर प्राकृत में बोलता है कभी कभी अपभ्रंश में भी। अपभ्रंश जब बोलता है तो अनायास यह दोहा उसके मुंह से निकल पड़ता है—

मइं जाणिअ मिअलोअणी णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव ण णवतडि सामलो धाराहरु बरिसेइ।

इसे ब्रजभाषा का दोहा बनाने में बहुत थोड़ा ही आयास करना पड़ेगा—

मैं जान्यो मृगलोचनिहिं निसिचरि कोइ हरेइ।
जौ लौं न नव तडि स्यामल धाराधर बरसेइ॥

कुछ लोग अपभ्रंश के इन पद्यों को प्रक्षिप्त मानते हैं। यदि कालिदास का काल सन ईसवी की पांचवीं छठी शताब्दी हो तो यह मानने में कोई विशेष आपत्ति नहीं है कि उस समय दोहा छंद प्रचलित था। डेढ़ दो सौ वर्ष बाद के तो दोहाबंध के ग्रंथ भी मिलने लगते हैं। यदि जंगल में प्रियाविरह की चपेट से विक्षिप्त राजा द्वारा कवि ने तत्काल प्रचलित ग्राम्य छंद में प्रलाप करा दिया तो इसमें अचरज की क्या बात है? जो लोग कालिदास का समय और भी पुराना मानते हैं उन्हें जरूर कठोर आपत्ति होगी। वे यदि चाहें तो इसे और अन्य अपभ्रंश पद्यों को प्रक्षिप्त मानकर संतोष कर सकते हैं। मुझे

तो इस समाचार से प्रसन्नता ही हो रही है कि कालिदास को यह छन्द मालूम था और अपनी पीयूषवर्षी लेखनी से उन्होंने इस छन्द को धन्य किया था। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कालिदास इस छन्द में रचना करने का लोभ नहीं संवरण कर सके और मौका और बहाना खोजकर कुछ लिख ही दिया। जो भी हो, आज से डेढ़ हजार वर्ष पहले यह छन्द खूब प्रचलित हो गया था।

कुछ पश्चिमी विद्वानों ने यह बताया है कि किसी समय वलख के ग्रीक सैनिकों में होमर की कविताओं का प्रचार था। उन्हीं लोगों ने या उनके संपर्क में आए आभीर आदि ने ग्रीक हेक्सा मीटर की तौल पर भारतीय जनभाषा में यह दोहा छन्द बना लिया था। पर यह बात कल्पना की उड़ान मात्र की सूचना देती है। किसी ठोस प्रमाण पर इस मत की पुष्टि नहीं हुई।

अब तक हमने जैन और बौद्ध साधुओं और साधकों की रचनाओं की चर्चा की है। स्वभावतः उनमें धार्मिक पुट है, वैराग्य की ओर झुकाव है, तत्त्वज्ञान का स्पष्ट करने की प्रवृत्ति है और भिन्न मतावलंबियों का उपहास करने का प्रयास है। परन्तु लोक जीवन के सरस हृदयों को बिना किसी धार्मिक आग्रह के प्रकट करने वाला अपभ्रंश-साहित्य बहुत अधिक मात्रा में किसी समय विद्यमान था। दुर्भाग्यवश वह सब सुरक्षित नहीं रह सका। हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण में सब जगह तो व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने के लिए एक दो पदों का निदर्शन रूप में दिखाकर चलता कर दिया गया है परन्तु अपभ्रंश के प्रकरण में वैयाकरण की कंजूस बुद्धि का सहारा नहीं लिया गया। नियमों के बताने में हेमचन्द्राचार्य ने अल्पाक्षरेण लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यते वैयाकरणाः वाले सिद्धान्त का ही पालन किया है पर अपभ्रंश के उदाहरणों में पूरे का पूरा दोहा उद्धृत कर दिया है। वैयाकरणों की दुनिया में निश्चय ही इस फिजूल खर्ची के लिए उन्हें दण्डभागी होना पड़ेगा, पर साहित्यिकों के लिए तो वे अमूल्य निधि छोड़ गए हैं। पता नहीं कहाँ कहाँ से उन्होंने इन बहुमूल्य दोहों का संग्रह किया था। निश्चय ही उनमें कई प्रसिद्ध कवियों की रचनाएं रही होंगी। इनमें लौकिक जीवन की सहज अभिव्यक्तियों का बड़ा ही मनोरम चित्र मिलता है। जान पड़ता है उन्हें इनके लोप हो जाने का भय था, इसलिए यत्नपूर्वक बचा रखना उनका उद्देश्य था। उन्हें जैन लोग कलिकाल सर्वज्ञ कहते थे। कदाचित् उन्होंने आधुनिक युग के सहृदयों के मनोभाव को दूरदृष्टि से ताड़ लिया था।

यह उन दिनों की बात है जब संस्कृत का साहित्य माघ, भारवि और हर्ष के वाग्वैभव का आस्वादन कर रहा था। वचन वक्रिमा अलंकरण चातुरी

मनुष्य अनुभवों की इस अमरता की इस विराट वैभव और बुद्धिवैभव से सुपुष्ट उचित विधान से मनोरम कला जगत इस काव्य के गुण हैं। बड़े बड़े टीकाकार भी हार गए यदि औदार्य इस काव्य को दुरूह और विद्वद्ग्राह्य बनाता है व्याकरण-शास्त्र की सूक्ष्म गुत्थियाँ इस बहु विचित्र शोभा से समृद्ध करती हैं। यह काव्य बार बार अनुशीलन और सावधान अध्ययन की माँग करता है काम-शास्त्र की बारीकियाँ नाट्यशास्त्र के अनुशासन और उचितविन्यास की मार्मिक जानकारी की अपेक्षा रखता है राजनीति के निपुण ध्यान प्रणिधान। राजसभा के अभिजातगृहीत कायदे कानूनों वस्त्राभरण की परिपाटी विहित विच्छित्तियों और नाना उत्सव समारोहों का सहृदयजन-वांछित विधियों के ज्ञान की आवश्यकता चाहता है शोभा विलास कान्ति हाव भाव बिब्बोक मोट्टायित कुट्टमित आदि अयत्नज और यत्नज चेष्टाओं के भेदोपभेदों को रसास्वादन की आवश्यक शर्त मानता है। पद्य तो पद्य गद्य में भी यह समय सुबाहु दर्पी और प्राण का युग है। इस युग में गद्य को पद्य से भी अधिक परिष्कृत रुचि और सुनिश्चित वचन वक्तव्य का विषय माना गया है गद्य को कवियों के परिष्कृत वाग्विलास की कसौटी माना गया है। कथाकारों के मुकुटमणि बाणभट्ट ने कहा था—उज्ज्वल दीपक और उपमा आदि अलंकारों से सम्पन्न अपूर्व नूतन पदार्थों के समावेश से विरचित, निरंतर श्लेषालंकार से घनीभूत होने के कारण किंचित दुर्बोध्य कथा-काव्य उज्ज्वल प्रदीप के समान उपादेय घन सन्निविष्ट चम्पक कली की उस मनोहर माला के समान जिसमें बीच बीच में चमेली के फूल पिरोये होते हैं किसका मन हरण नहीं करते ?

हरति कं नोज्ज्वला दीपकोपमै
नवै पदार्थैरुपपादिता कथा।
निरंतर श्लेषघना सुजातयो
महास्रजश्चम्पक कुड्मलैरिव॥

इसी पाण्डित्यव्यापिनी, बुद्धिग्राह्य सावधान पाठ्य मनोरम अभिजात काव्य के वातावरण में अपभ्रंश के इन सहज सुकुमार मर्मभेदी अव्याज मनोहर कविताओं की रचना होती है। सीधी बात सीधे हृदय से निकलती है और सहृदय के हृदय पर सीधी चोट करती है। अलंकरण के लिए कोई आयास नहीं वक्रभंगिमा के लिए दौड़ धूप नहीं परिपाटी विहित रसिकता की परवाह नहीं लीला विलास विच्छित्तियों के निपुण विवेचन की कोई खबर नहीं—सरल मानस की सहज अभिव्यक्ति।

काव्य जगत की रूढ़ियों से त्रस्त परिपाटी विहित भामिकता से घायल

ग्रौर कृत्रिम भावभगिया से ऊबे सहृदय को यहा शाति की साँस लेने का अवसर मिलता है। बहुत पहले कविकुलगुरु कालिदास ने कभी कहा था—

शुद्धान्तदुर्लभमिदं वपुराश्रमवासिनो यदि जनस्य।
दूरीकृता खलु गुणरुद्यानलता वनलताभि।

राजाग्रो के अत पुर म दुलभ इस प्रकार का मनोहर शरीर यदि आश्रम व सियो का हो तो फिर निश्चय ही वन लताग्रो न उद्यान लताग्रो को गुणो मे बहुत दूर पीछे छोड दिया है।

इन कविताग्रो को पढकर महाकवि की इस उक्ति की याद ग्राए बिना नही रहती।

स्वयभू त्रिभुवन ग्रौर पुष्पदत जसे कवियो के काव्य की भाषा अवश्य ही अपभ्रश है परतु वे शास्त्रीय परपरा के कवि है। उन्होने सस्कृत ग्रौर प्राकृत के काव्यो का गम्भीर ग्रध्ययन किया था। ग्रलकार, रस ग्रौर पिंगल के पूर्ण ज्ञाता थे। परतु हेमचन्द्र के व्याकरण म उद्धत दोहो मे ग्रामीण कवियो की सरल ग्रभिव्यक्ति है उनमे कोई ग्राडम्बर नही है वक्रता नही है रसनिष्पत्ति के लिए चिन्तन-जन्य भगिमा नही है। स्वयभू लोकभाषा के प्रेमी थे परन्तु रसमष्टि के ग्रभिजातजनोचित नियमो के परिपालक भी थे। हरिवश पुराण म स्वयभू ने लिखा है कि उन्हे इन्द्र से व्याकरण व्यास से विस्तरण, पिंगल से छन्द ग्रौर प्रस्तार विधि, भामह-दण्डी स ग्रलकरण बाणभटट से घनघनित शब्दाडबर हरिसेन तथा ग्रन्य कवियो से कवित्व-गुण ग्रौर चउम्मुह (चतुर्मुख) से छन्दण, द्विपदी ग्रौर ध्रुवको स जडित पद्धडियाबन्ध प्राप्त हुग्रा—

इन्देण समप्पिउ वायरणु। रस भरह वास वित्थरणु॥
पिंगलेण छद पय पत्थारु। सम्मह दण्डिणिहि ग्रलकारु॥
बाणेण समप्पिउ घणघणउं। ते ग्रक्खर डम्बर घण घणउ॥
हरिसेणि याविउ णित्तणउ। ग्रवरेहि मि कहिंहि कवित्त णउ।
छन्दणिय-दुवइ धुवएहि जडिय। चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय॥

इस वक्तव्य म उनके गभीर ग्रध्ययन ग्रौर शास्त्रीय ज्ञान का परिचय मिलता है। निश्चय ही उनके काव्य म इस गभीर ग्रध्ययन-मनन का साक्ष्य वतमान है। वे विकट बध के कवि कहे गए हैं। पर जिन दोहो की चर्चा हम आगे करने जा रहे हैं व इसे पण्डिता के लिये नही जान पडते। पडित वे हो भी तो पण्डिताई स बहुत उपर उठे हुए हैं। सहज भाव बडी कठोर साधना से प्राप्त होता है।

कुछ उदाहरणो स बात स्पष्ट हो सकेगी।

एक विरह व्याकुला प्रिया कहती है कि किसी प्रकार यदि मैं प्रिय को पा जाती तो एक ऐसा खेल करती जो अब तक किसी ने नहीं किया। उसके प्रत्येक अंग में ऐसा पैठ जाती जिस प्रकार पानी मिट्टी के नये कसोरे में प्रवेश कर जाता है—अंग अंग में भीन जाता है—

जइ केवइँ पावीसु पिउ अकिआ कुड्डु करीसु।
पाणिउ नवइ सरावि जिव सव्वंगे पइसीसु॥

प्रेमपरवशा वधू कहती है—माई री जब मन स्वस्थ हो तो मान की सुधि की जाए। यहां तो बात ही कुछ और है। ज्यों ही प्रिय को देखती हूं ऐसी हड़बड़ी मचती है कि फिर अपनी समझी-बूझी को याद ही कौन करे! सारा सोचा समझा गायब हो जाता है—

अम्मीए सत्थावत्थेहि सुधि चिंतिज्जइ माणु।
पिए दिट्ठे हल्लोहलेण को चेअइ अप्पाणु॥

मान करनेवाले दूल्हे को सिखाया जा रहा है—प्यारे मैंने तुम्हें बहुत बार मना किया कि मान देर तक न किया करो। वेपीर इस मान मनौअल में रात बीत जाएगी और जल्दी जल्दी दड़बड़ विहान हो जाएगा!

ढोल्ला मइँ तुहुँ वारिआ मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तडी दडवड होइ विहाणु॥

कोई वयस्का सखी सहजबंकिम लोचना नायिका को परिहास पेशल वाणी में समझा रही है—बिटिया मैंने तुम्हें कितनी बार कहा कि इस दृष्टि को बाँकी न किया करो। वह जो कानवाली बर्छी होती है न जो हृदय में घुसकर मांस नोचकर बाहर निकलती है उसी प्रकार तुम्हारी यह बाँकी दृष्टि शिकार को बेधती है।

बिट्टीए मइँ भणिय तुहुँ मा कुरु बंकी दिट्ठि।
पुत्ति सकण्णी भल्लि जिव मारइ हियइ पइट्ठि॥

बंकिम कटाक्ष के तीखेपन को इस प्रकार समझाया जाता है—जस जस वह साँवरी अपने बंकिम लोचनों को घूमना सिखाती है वस-वस मन्मथ अपने बाणों की धार पत्थर पर पजा-पजाकर (घिस घिसकर) तीखा कर लेता है (ये बाण पूरा के नहीं इस्पात के हाण!)

जिव जिव बंकिम लोअणहं णिरु सामलि सिक्खेइ।
तिव तिव वम्महु निअअ-सर खरि पत्थरि तिक्खेइ॥

विरहिणी ग्राम-वधू काक के शकुन पर अब विश्वास नहीं करती। सुनते सुनते कान पक गए पर प्रिय का आना नहीं हुआ और यह काग है कि बोलता

ही जा रहा है। उसने उड़ाना चाहा इस मिथ्याभाषी को, हाथ उठाकर। विरह से दुबली कलाइयों से चूड़ी निकलकर पृथ्वी पर गिरी लेकिन कागा की बात ठीक ही थी। अचानक प्रिय दिख गया। आधी चूड़ियाँ धरती पर गिर गई थी। पर सहसा प्रियदर्शन से खुशी की लहर दौड़ी, दुबली कलाई पूनकर मोटी हुई, आधी चूड़ियाँ तड़ाक से टूट बिखरी!

वायसु उड्डावतिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्टु तडत्ति॥

कैसी सहज अभिव्यक्ति है! कोई बनाव सिंगार नहीं, कोई आडंबर नहीं, सहज उल्लास का सहज प्रकाशन।

मान करनेवाले प्रेमी से प्रिया कहती है—देखो प्यार, जिन्दगी का कोई ठिकाना नहीं है और मौत का आना एकदम तय है। ऐसी हालत में यह रूठने की बात क्या? रूठोगे तो ये वियोग के एक-एक दिन देवताओं के सौ-सौ बरसों के समान हो जाएंगे।

चवल जीवणु ध्रुवु मरणु पिअ रूसिज्जइ काइं।
होसहिं दिअहा रूसणा दिव्वइं वरिस सयाइं॥

सीधा सा अकाट्य तर्क है!

काव्य शिक्षा सिद्ध कवि जब के उत्तान शृंगार का चित्रण करता था पर कहीं न कहीं उसके हृदय में चोर बैठा होता था। वह जानता था कि लोग इस बात को अच्छा नहीं समझेंगे। इन दोहों के कवि में ऐसी झिझक नहीं थी। राधा के पयोधरों की महिमा वह इस प्रकार वर्णन करता है—'इन्होंने श्रीकृष्ण को आंगन में ही नचा दिया और लोगों को अचरज में डाल दिया। अब राधा के इन मनोहर अंगों का जो होना हो, हो!

हरि णच्चाविउ पंगणइ विम्हइ पाडिउ लोउ।
एम्वहिं राह पओहरह जं भावइ तं होउ॥

अब्दुल रहमान ने भी संदेशरासक में विरह की अभिव्यंजना इन्हीं प्रतिदिन के जीवन में प्राप्त होनेवाले सहज उपमानों के सहारे की है। विरह विधुरा प्रिया कहती है—मेरा प्रिय मेरे हृदय में सुनार की तरह उत्कंठा जागृत करता रहता है क्योंकि पहले तो विरह की आग में जलाया करता है और फिर आशा के जल से सींचा करता है।

सुनारह जिम मह हियउ पिअ उक्किल करेइ।
विरह हुयासि दहेवि करि आसा जलि सिंचेइ॥

फिर, ए रात्रि तुम्हारी शिकायत भी क्या करूँ? यह शिकायत कम

इतनी थोड़ी है कि तीन लोक में ग्रँट सके ? दुख के दिनों में तो तू चौगुनी हो जाती है पर सुख सगम के समय एकदम छोटी हो जाती है। इस अन्याय की कोई सीमा है ?

जामिणि ज वयणिज्ज तुग्र त तिहुय णि णहु माइ।
दुक्खिहि हाइ चउग्गणी भिज्जइ सुह सगाइ॥

(सदेश रासक)

प्रबध चिंतामणि पुरातन प्रबध सग्रह में जो मुज और मृणालवती सबधी दोहे प्राप्त होते हैं उनमें भी अत्यत सहज अभिव्यक्ति है। गतयौवना मृणालवती को सबोधन करके मुज कहता है—ऐ मृणालवती क्यो चिंता करती है कि तेरा यौवन समाप्त हो गया है। मिश्री चूर चूर भी हो जाए तो भी चूरे उतने ही मीठे बने रहते हैं—

मुज भणइ मुणालवइ गउ जुव्वणु मति झूरि।
जो सक्कर सय खण्ड किग्र तो वि स मिट्ठी चूरि॥

फक्कड राजा मुज की जो मृणालवती के प्रेम के धोखे में गिरफ्तार हुआ और बाँधा जाकर दर दर घुमाया गया यह कैसी चुटीली उक्ति है।

पर हेमचद्र के सगृहीत दोहो में केवल शृगार ही नहीं है। उसकी सबसे अधिक आकर्षक बात है वीर-पत्नियों का गर्व। पति की वीरता को सहज गर्व का विषय बनाकर ये वीरबालाएँ ऐसी दर्पोक्तियाँ करती हैं कि वश देखते ही बनता है। यह एकदम नवीन प्राणस्पदी काव्य है।

अरी ओ सखी मेरा वल्लभ जब देखता है कि अपना दल टट रहा है और शत्रु का दल बढ़ा आ रहा है तभी निशा के अधकार को चीरती हुई नवीन रेखा की भाँति उसकी करवाल चमक उठती है—

भग्गिउ देक्खिवि निग्रग्र बलु बलु पसरिग्रउ परस्सु।
उम्मिल्लइ ससिरेह जिव करि करवालु पियस्स॥

अरी सखी मेरा कात वह है लोग जिसकी सौ-सौ लड़ाइयों की बहादुरी का बखान किया करते हैं देख किस प्रकार त्यक्तांकुश मत्तगजराजों के विशाल कुम्भों को लगातार तलवार की चोट से विदीर्ण करता जा रहा है—

सगर सएहि जु वण्णिग्रइ देक्खु ग्रम्हारा कतु।
ग्रइमत्तहँ चत्तकुसहँ गयकुम्भइँ दारतु॥

सुन सखी मेरा प्यारा वीरो की उस निविड घटा के भीतर से अपना रास्ता निकाला करता है जहाँ बाणो से बाण कटा करते हैं और तलवारो से तलवारें छीजती रहती हैं। ऐसा भयकर रणघटा में ही वह अपना मार्ग बनाता है—

जहिं कप्पिज्जइ सरिण सरु छिज्जइ खग्गिण खग्गु ।
तहिं तहइ भड घड निवहि कंतु पयासइ मग्गु ॥

भलेमानस तू अगर बड़े आदमियों के बड़े बड़े महलों को पूछता है तो देख वे बड़े महल वे हैं। पर एस महान का घर पूछता है जो सकट कातर लोगों के उद्धार का सामर्थ्य रखता है तो देख उस कुटिया को जहाँ मेरा कांत रहता है।

जइ पुच्छह घर बड्डाइँ तो वड्डा घर ओइ ।
बिहलिअजण—अब्भुद्धरणु कंतु कुडीरइ जोइ ॥

अरी ओ सखी तू क्या उसकी शूरता और वदान्यता की बड़ी बड़ाई कर रही है। बेकार बकवास न कर। मैं उसके दो दोषों को भली भांति जानती हूँ—दान करने लगता है तो सवस्व उलीचकर दे देता है, मुझे बचा लेता है, जूझने लगता है तो सब-कुछ दाँव पर लगा देता है, तलवार बचा लेता है। ऐसे कजूस की तू बड़ाई कर रही है। झूठ है सब झूठ है—

महु कंतहु बे दोसडा हेल्लि म झंखहि आलु ।
देन्तहो हउ पर उव्वरिअ जुज्झंतहो करवालु ॥

कुमारी प्रार्थना करती है—हे गौरी इस जन्म में और अगले जन्म में मुझे ऐसा वर दो जो त्यक्तांकुश मत्तगजराजा से हसता हँसता भिड जाए।

आएँहि जम्मेंहि अन्नेंहि वि गवरि सु दिज्जइ कंतु ।
गयमत्तच्चत्तंकुसहँ जो अभिडइ हसंतु ॥

किसी शत्रुपक्षीय शूर की प्रशसा सुनकर वीरबाला की यह दर्पोक्ति सुनिए—जब तक कुंभतट पर सिंह की चपेट की चटाक नहीं पड़ती तभी तक सारे मतवाले गजराजो के पग-पग पर ढोल बजा करते हैं—

जाम न निवडइ कुंभयडि सीह चवेड चडक्क ।
ताम समत्तहँ मयगलहं पइ पइ वज्जइ ढक्क ॥

बलैया जाऊं उस प्यारे की जिसके पैरों में मत योद्धाओं की अंतड़ियाँ उलझी हुई हैं सिर कंधे से झूल पड़ा है तो भी कटार पर हाथ जमा हुआ है—

पाइ विलग्गी अन्त्रडी सिरु ल्हसिअउ खंधस्सु ।
तो वि कटारइ हत्थडउ बलि किज्जउ कंतस्सु ॥

शत्रुसेना से घिरे शूर की दर्पोक्ति भी सुनिए—अरे भाग जाऊँ, शत्रु प्रबल है तो क्या आसमान पर या बादल पर चढ जाऊँ? मरे भी तो ऐसा जाय हैं। मरना ही है तो मारकर मरूँगा—

हिमडा जइ वेरिम पणा तो कि प्रम्मि चडाहुँ ।
पम्हांहि बि बे हत्थडा जइ पुणु मारि मराहुँ ॥

शृंगार और शौर्य का यह अद्भुत लोक है। यहाँ भय और आशंका का कोई स्थान नहीं है भविष्य की चिन्ता से घर-घर कर कम्म रहने वालों की पगध्वनि यहाँ नहीं सुनाई देती। भला ऐसे पुत्र के उत्पन्न होने से लाभ ही क्या है और मर जाने से नुकसान ही क्या है जिसके रहते बाप की जमीन दूसरे भोगते रहें—

पुत्ते जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पीकी भूहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

इन दोहों में शृंगार और वीर रस के अतिरिक्त नीति के दोहे भी हैं। परवर्ती साहित्य में इन सभी अंगों का समुचित विकास पाया जाता है। परवर्ती साहित्य के अध्ययन के लिए इनका महत्त्व बहुत अधिक है।

अपभ्रंश में एक तरफ जहाँ लौकिक रस के सहज सरस दोहे लिखे जा रहे थे वहीं अन्य छंदों की भी रचनाएं हो रही थीं। जैन कवियों ने अपने काव्यों में बड़े बड़े छन्दों का भी प्रयोग किया है। मुख्यतः वे कडवक बद्ध हुआ करते हैं। कडवक अपभ्रंश के काव्य रूपों का पारिभाषिक शब्द है। पज्झटिका पद्धडिया आदि छंदों की कुछ पंक्तियाँ देकर बाद में घत्ता उल्लाला आदि छन्द दिए जाते थे जो बहुत कुछ तुलसीदास और जायसी के चौपाई दोहा के पूर्व रूप हैं। इसे पद्धडिया बंध भी कहते हैं। स्वयंभू ने अपने पूर्ववर्ती अपभ्रंश कवि चउम्मुह (चतुर्मुख) को पद्धडिया-बंध का राजा बताया था। उन्होंने कृतज्ञता पूर्वक स्वीकार किया है कि उन्होंने पद्धडिया बंध की प्रेरणा चउम्मुह से ही ली थी। धीरे धीरे अपभ्रंश में रोला उल्लाला, वीर, काव्य छप्पय कुंडलिया रासक आदि बड़े बड़े छंद भी प्रचलित हुए। वे भी उतने ही सरस बन पड़े जितने दोहे। अब्दुल रहमान के संदेशरासक में अनेक प्रकार के छन्दों का बहुत सुंदर प्रयोग हुआ है। प्राकृत पैंगलम में कई कवियों के बड़े मनोहर छन्द उदाहरण रूप में उद्धृत हैं। 'प्राकृत पैंगलम' में बब्बर जज्जल विज्जाहर (विद्याधर) आदि कई कवियों के नाम भी मिल जाते हैं। इनकी वीर और शृंगार रस की कविताएँ बहुत ही उच्च कोटि की हैं। काशी कान्यकुब्ज के महाराजा जयचन्द्र (जयचंद) की वीरता बताने वाली यह कविता कितनी उत्साहवर्द्धक है—

भअ भज्जिअ बंगा भग्गु कलिंगा
तेलंगा रण मुक्कि चले।
मरहट्ठा ढिट्ठा लग्गिअ कट्ठा

सोरट्ठा मञ्रपाभ्र पले।
चपारण कथा पन्वय झपा
भ्रो।था भ्रोत्यी जीव हरे।
कासीसर राणा क्यिउ पश्राणा
विज्जाहर भण मतिवरे।

जज्जल की यह प्रसिद्ध उक्ति प्राकृत पगलम स ही उद्धृत है—

पिधउ दिढ सणाह वाह उप्पर पक्खर दइ।
बधु समदि रण धसउ सामि हम्मीर वग्रण लइ॥
उड्डल णह पह ममउ। रिउ सीसहि डारउ।
पक्खर पक्खर ठेल्लि पेल्लि पव्वग्र ग्रप्फालउ॥
हम्मीर कज्ज जज्जल भणइ कोहाणल मुह मह जलउ।
सुरताण सीस करवइ जाल दतेजि कलेवर दिग्र चलउ॥

उदाहरणो को बढाने से कोई लाभ नही है। ये छद केवल इतनी सूचना दे जाते हैं कि किसी समय अपभ्रश भाषा मे बहुत ही उत्तम कोटि का साहित्य उपलब्ध था। यद्यपि इस समय हमारे पास जैन कवियो के धार्मिक काव्य ही कुछ बचे रह गए हैं पर लौकिक रस का प्रचुर साहित्य इस भाषा मे विद्यमान था इसमे कोई सदेह नही। इस प्रसग मे उल्लेख्य है कि लौकिक शृगार रस का एक ही पूरा काव्य उपलब्ध हुआ है—अद्दहमाण या अब्दुल रहमान नामक पजाबी मुसलमान कवि का सन्देश रासक। यह विरह का काव्य है। इसमे कवि ने बडी ही कुशलता से एक विरहिणी नारी के वियोगाकुल हृदय का चित्र खीचा है। यद्यपि ग्रथ मे प्रधान रूप से रासक छद का ही प्रयोग हुआ है पर अन्य बडे छोटे छद भी इस ग्रथ मे कम नही हैं। इस पुस्तक की कुछ पक्तियो की बानगी देना अनुचित नही होगा। एक विरहिणी जो विजयनगर की है प्रिय विरह से कातर होकर किसी की राह जोह रही है। तभी मुलतान का कोई आदमी जो व्यापार के सिलसिले मे मालिक का पत्र लेकर खभात जा रहा है मिल जाता है और वह अपना सन्देश उसके हाथो भेजती है। विरहिणी का प्रथम परिचय बडा ही करुण है। यद्यपि अपूर्व सुन्दरी है, उभरे हुए वक्ष *स्थल और सिंह की तरह पतली कटि तथा हस के समान गति वाली है* फिर भी विरहाग्नि की आँच से उसका चेहरा काला पड गया है सोने का-सा रग म्लान हो गया है जैसे चद्रमा राहु द्वारा पराभूत हो गया हो। वह दीनानना राह जोह रही है आँखो से निरन्तर जलधारा प्रवाहित होती जा रही है—

विजयनयरहु काबि वररमणि
उत्तुंगथिरथोरथणि विरहलवंक धयरठपउहर।
वीणाणण पहु णिएइ जलपवाह पयहत दीहरि।
विरहग्गिहि कणयंगितणु तह सामलिमपवन्नु।
णज्जइ राहि विडम्बिग्रउ ताराहियइ सउन्न।

फिर सामने किसी बटोही को जाते देखती है और उसे रोकती है। उसके पास पहुँचने का उतावली उस विरहकातरा तन्वंगी की दुर्गति हो जाती है। तेजी से जो वह पथिक की ओर बढ़ी तो कमर की रत्नावली टूट गई किंकिणियाँ कण कणन के साथ बिखर गईं। किसी तरह उन्हें समेटा और रत्नावली में निष्ठुर गाँठ बाँध-बूध आगे बढ़ी तो मोतियों का नौलडा हार टूट कर छितरा गया। उसे बिचारी ने सँभालकर कुछ आगे बढ़ने का प्रयत्न किया तो चरणों में नूपुर ही उलझ गया और उसकी किंकिणियाँ रास्ते में बिखर गई।

तं जं मेहल ठवइ गंठि णिट्ठुर सुहय
तुडिय ताव थूलावलि णवसर हार लय।
सा तिवि किवि सचोरवि चइवि किवि सचरिय
णेवर चरण विलग्गिवि तह पहि पखुडिय॥

इस उतावली की कोई हद है! पथिक मिला मुलतान का निवासी खभात का यात्री। विरहिणी का पति वहीं रहता था। फिर सदेशा! विरह का अपार समुद्र! जितना ही गभीर उतना ही उद्दाम!

अब्दुल रहमान बड़े ही निपुण कवि थे। उन्होंने आरम्भ में अपना परिचय देते हुए कहा है कि वे प्राकृत के काव्य और गीत विषयों में निपुण हैं। निस्सदेह उनके इस छोटे-से काव्य से पता चलता है कि वे महान कवि रहे होंगे। प्राकृत काव्य पर उनका अनुराग भी बहुत है। उन्होंने बड़ी विनम्रता से अपना काव्य आरम्भ किया है। उनका लक्षीभूत श्रोता थोड़ा-बहुत पढ़ा लिखा सहृदय है। वे कहते हैं कि जो लोग पडित हैं वे इस कुकवित्त के लिए क्या ठहरेंगे जो एकान्त मूर्ख है उसका मूर्खता के कारण इसमें प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग न पडित हैं और न एकदम मूर्ख हैं मध्यवर्ग में आते हैं उन्हीं को यह कविता प्रिय लगेगी। उनके सामने ही यह कविता बार बार पढ़ी जा सकती है—

णहु रहइ बुहह कुकवित्तरेसु
अबुहत्तणि अबुहह णहु पवेसु।

जिण मुक्ख न पडिय मज्झयार।
तिह पुरउ पढिव्वउ सव्ववार॥

इस काव्य में विरह की अनेक सूक्तियाँ भी हैं। पर अधिकांश विरहिणी के कोमल हृदय की सरल अभिव्यंजना है। ऋतुवर्णन का बहाना भी कवि ने ढूँढ लिया है और सीमित प्रक्रम में प्रकृति के बदलते हुए विभिन्न रूपों के साथ मनुष्य के रागात्मक हृदय का अद्भुत स्वारस्य चित्रित किया है। इस विरह वर्णन के अत्यन्त करुण चित्र में भी कवि का प्राकृत भाषा का प्रेम प्रकट हो जाता है। शरतकाल के वर्णन में विरहिणी नायिका पथिक से पूछती है—

कहो पथिक, क्या उस देश में रात को निर्मल चन्द्रमा की ज्योत्स्ना नहीं छिटकती? क्या अरविंदों पर विहार करने वाले हंस कलरव नहीं करते? क्या कोई सुललित राग से प्राकृत भाषा का गाना नहीं गाता? क्या कापालिक (निर्दय) भाव में कोई पंचम सुर में तान नहीं छेड़ता? क्या वहाँ प्रातःकाल की प्रत्यूष वेला में ओस से भीगे पुष्प समूह महमह नहीं कर उठते? हे पथिक, मैं तो समझती हूँ कि मेरा प्रिय अरसिक ही है जो शरत्काल में भी घर नहीं लौटता—

कि तहि देस णहु फुरइ जुण्ह णिसि णिम्मल चंदह
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविंदह।
अह पायउ णहु पढ़इ कोइ सुललिय पुण राइण
अह पंचमु णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु ओससित्तु घणु कुसुम भरु।
अह मुणिउ पहिय अणरसिउ पिउ सरइ समइ जुण सरइ घरु!

कैसा है वह देस जहाँ प्राकृत का ललित राग भी नहीं गाया जाता!! अब्दुल रहमान का अपना नगर ऐसा अरसिक नहीं था। वहाँ तो प्राकृत और रासक से नगर मार्ग मुखरित होते रहते थे। इस कवि ने साम्बपुर या मुलतान का बड़ा ही मनोहर और जीवन्त वर्णन किया है। वहाँ के धवलतुंग प्राकारों का उल्लेख करते हुए जब नगर के जीवन क्रम का परिचय देता है तो पहली बात वह यही कहता है कि चतुर व्यक्तियों के साथ नगर में प्रवेश किया जाए तो अत्यन्त मधुर-मनोहर प्राकृत छन्द सुनाई देंगे चौरे लोगों का वेद-पाठ सुनाई देगा और नाना रूपों में निबद्ध रासक सुनाई देंगे।

विविहविअक्खण सत्थिहिं जइ पवसिइ णिरु
सुम्मइ छंदु मणोहरु पायउ महुरयरु॥

कहव ठाइ चउवेईहिं वेउ पयासियउ ।
कहुँ बहुरूवि णिवद्धउ रासउ भासियइ ॥

प्राकृत के मनोहर छन्द वद ग्रौर रासक । रामायण, महाभारत नलच्म यन्ती गारगा सन्यप्रवच्छ, सब वाद म । इसी म इस कवि का प्राकृत (ग्रौर ग्रप भ्रंश) काव्य के प्रति राग स्पष्ट हो जाता है। हर ऋतु का वणन कवि न बडा ही मनोरम किया है। वर्षा क प्रसग म—

ग्रपवि तम बद्दलिण दसह दिसि छायउ ग्रम्बरु ।
उनवियउ घुरहुरइ घोरु घणु किसणाडंबरु ॥
णहह भग्गि णहवल्लि तरल तडयडिवि तडक्कइ,
दद्दुर रडणु रउदु सद्दु कवि सहवि ण सक्कइ ।
निवड निरंतर नीरहर दुद्धर धरधारोहमरु ।
किम सहउ पहिय सिहरट्टि ठयइ दुसहउ कोइल रसइ सरु ।

कवि की यह उक्ति बादलो की घनघोर घटा काले मसृण ग्राडंबर के साथ घुरघराती हुई घुमडती हुई ध्वनि नभोभाग म बिजली का तडतडाना, दादुरो की रौद्र रटन ग्रौर रुई के पहल पर पहल के समान फल हुए जलभरित मघो की दुधर धारा-पक्तियो को बिना ग्रथ समझे भी प्रत्यक्ष कर देती हैं। विर हिणी की यह करुण हृदयवेदना कि ऐसे समय म शिखर पर बठी कोयल की दु सह कूक कसे सह मूर्तिमत होकर प्रकट होती है। पर हर ऋतु म बदली हुई प्रकृति के साथ ताल मिलाकर चलनेवाली मानव प्रकृति प्राकृत के रागो म बराबर मूर्तिमती हो उठती है। ग्रब्दुल रहमान कोयल की कूक के साथ रागो की दुनिया की कूक का कभी नहीं भूलते। वसन्त म एक तरफ विभिन्न पुष्पो के रगो ग धो रूपो म प्रकृति के ग्रन्तरतर की उल्लास वन्ना कसमसा उठती है कोयल कूकने लगती है ग्रौर भौंरे गुंजार करने लगत है। मोर नाच उटत हैं। सारी प्रकृति उल्लसित ग्रौर मदविह्वल हो उठती है पर साथ ही ग्रब्दुल रहमान मनुष्य के उस राग रंजित चित्त को नही भूलत जो नूपुरो की रुनझुन म नृत्य की चटुल भगिमा म, हारो की भटकन मटकन म चचरी क गेय पदो के साथ उमडत तालो म, युवतियो के उल्लास-तरल कठ म ग्रभिव्यक्ति पाता है—

नच्चौ रिहि गेउ झुणि करिवि तालु,
नौच्चीयइ ग्रउव्व वसंत कालु ।
घण निविड हार परिलिल्लरीहिं
रणझुण रउ मेहलकिंकिणीहिं ।

गज्जति तरुणि णवजुवणोहिं
सुणि पढिय गाह पिम्रकखिरीहिं ।

एस समय म प्रिय विरहिता यह प्राकत गाथा पढे बिना क्स रह सकती था ?—

एम्रारिसमि समए घणदिणरहसोयरमि लोयम्मि ।
म्रच्चहिय मह हियए कदप्पो खिवइ सरजाल ।।

ग्रर्थात एस समय म जबकि लोक मे दिन इतन उत्तेजक हो गए हैं यह कितनी बडी विपत्ति है कि प्रेम का देवता मेरे हृदय पर बाणा की निरतर चोट करता ही जा रहा है !

हर मौसम म ग्रब्दुल रहमान प्रकति की ग्रतर्निगूढ वेदना के साथ मानव चित्त का उद्वेल करने वाली प्राकत कविता का ध्यान रखते हैं। मानो यह कविता भी हजार फूला के बीच खिला हुग्रा एक फूल हो—सहज मनोरम भव्य, ग्राकपक।

ग्रपभ्रश कविता के जो कुछ भी ग्रवशप प्राप्त हुए हैं वे इतने मोहक ग्रौर रसाल हैं कि वक्ता का छूट दी जाए तो एक एक कविता उद्धत करने की सोचेगा, एक ही कविता को कई बार पढ़न की कामना करगा। परन्तु मैं ग्रापको ग्रधिक उद्धरणो से परेशान नही करूँगा। कुछ थोडी सी कविताए इस बात को सिद्ध करन क लिए पर्याप्त हैं कि यह साहित्य कितना समृद्ध था, कितना सहज या कितना मनोरम था !

मैं कुछ ग्रौर पुस्तको म प्राप्त कविताग्रा को उद्धत करने की लालसा को दवा रहा हूँ। जसाकि शुरु म ही बताया गया है कई ग्रयो मे इस साहित्य की सामग्री बिखरी पडी है। कुछ एसी महत्वपूण पुस्तका का सिफ नामाल्लेख करके विरत हा रहा हूँ जिनमे ग्रपभ्रश की उत्तम रचनाएँ बिखरी हुई हैं ग्रौर मरे दखन म ग्राई हैं।

प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रन्थ स० १३६१ वि० म लिखा गया था। इसके दा ग्रग्रेजी ग्रनुवाद हो चुके हैं। मैंने हिन्दी म भी इसका ग्रनुवाद किया है जो सिंघी ग्रथमाला म प्रकाशित हा चुका है। इसम ग्रपभ्रश के कुछ बहुमूल्य दाहे हैं जो सिद्ध करत हैं कि किसी समय ग्रपभ्रश का विपुल साहित्य उपलब्ध था। मेरुतुग इसके लेखक हैं। बाद म राजशेखर सूरि न दखा कि इसम कुछ कथाएँ छूट गई हैं। उन्होने चौबीस प्रबन्धा का प्रबन्धकोश लिखा ग्रौर इन दोना म छूटी हुई कथाग्रा को परवर्ती जन पाठका न विविध हस्तलेखों के हाशिए पर लिख रखा था जिनका सग्रह मुनि जिनविजयजी न पुरातनप्रबन्ध सग्रह' नाम

से सम्पादित किया है। इन दो संग्रहों के हिन्दी अनुवाद भी मैंने किए हैं। पर अभी तक वे प्रकाशित नहीं हो सके हैं। इन तीन प्रबन्धों में अपभ्रंश की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं जो इस भाषा के विपुल साहित्य की ओर इंगित करती हैं। सोमप्रभ नाम के एक दूसरे जैन आचार्य हुए हैं जिन्होंने कुमारपाल प्रतिबोध नामक एक विचित्र काव्य लिखा जो है तो मुख्यतः प्राकृत में है पर एक दो कथाएँ संस्कृत में और कुछ अन्य अपभ्रंश में हैं। अपभ्रंश के कुछ दोहे इसमें आए हैं। कदाचित कवि ने कथाओं को रोचक बनाने के उद्देश्य से और उन्हें सामयिक और स्थानिक रंग देने के लिए अज्ञात और अप्रसिद्ध कवियों के दोहे बीच-बीच में रख दिए हैं। इन दोहों में कई हेमचन्द्र के उदाहरणों में मिल जाते हैं और कई प्रबन्ध चिन्तामणि आदि में भी। इसमें स्वयं सोमप्रभ के दोहे भी हैं पर अन्य कवियों की कविताओं से इतना तो पता चल ही जाता है कि अपभ्रंश का बहुत व्यापक साहित्य उन्हें उपलब्ध था और फिर यह भी कि कुछ कवियों के दोहे इतने प्रसिद्ध थे कि कई-कई ग्रन्थकारों ने उद्धृत किए।

यह सत्य है कि इस विशाल साहित्य का अधिकांश नहीं मिला। पर जो मिला है वह निस्संदेह महत्त्वपूर्ण है।

भाषा सर्वेक्षण

ाषा सर्वेक्षण बहुत ही उत्तरदायित्वपूर्ण और पवित्र काय है। इसके लिए अधिक-से अधिक सावधानी और वैज्ञानिक तटस्थ बुद्धि की आवश्यकता होती है। हमारे देश में भाषाओं के अध्ययन का काय बहुत पुराना है। हमारे वैयाकरणों ने समय समय पर विभिन्न प्रदेशों में बोली जाने वाली भाषाओं और बोलियों के बारे में कुछ उल्लेखनीय काम किया है। परन्तु लिंग्विस्टिक सर्वे उनसे भिन्न श्रेणी का काम है। यह केवल कुछ बोलियों के नाम गिनाने या व्याकरण बनाने का काम नहीं है। यह उससे भिन्न भी है और अधिक महत्त्व का काम भी है। आधुनिक युग में हमारे देश के भाषा सर्वेक्षण का काम उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से शुरू हुआ है। यद्यपि यूरोपीय विद्वानों ने इस देश की भाषाओं की जानकारी प्राप्त करने के लिए थोड़ा-बहुत काम बहुत पहले ही शुरू कर दिया था, लेकिन सन १८७८ ई० तक कोई ऐसा भी काम नहीं हुआ था जिसे आधुनिक दृष्टि से एक अच्छा कैटेलाग भी कहा जा सके। यूरोपियन यात्रियों में जिन लोगों ने भाषा के विषय में जानकारी प्राप्त कराने का प्रयत्न किया उन्होंने बहुत-कुछ अटकल का ही सहारा लिया। किसी किसी ने इस देश की भाषाओं की संख्या ५० ६० बताई और किसी ने २५० तक। परन्तु १८७८ ई० में प्रसिद्ध भाषा शास्त्री डा० कस्ट ने पहला शानदार प्रयत्न किया और अपनी खोज का विवरण MODEPN LANGUAGES OF THE EAST INDIES नामक ग्रन्थ में प्रकाशित कराया।

इस पुस्तक में पहली बार भाषा शास्त्रीय सूझ बूझ के साथ इस देश की भाषाओं के वर्गीकरण का प्रयत्न किया गया है। उनका यह प्रयत्न अधूरा ही था क्योंकि किसी एक व्यक्ति के लिए, चाहे वह कितना भी बड़ा पंडित हो।

सम्पूर्ण भारत की भाषाओं का सर्वेक्षण एक असम्भव कार्य ही है। फिर भी डॉ० कस्ट का काम बहुत ही शानदार था क्योंकि उसने विद्वानों को और सरकार को इस कार्य के करने की बड़ी प्रेरणा दी।

सन् १८८६ ई० में वियना में प्राच्यविद्या कांग्रेस की ऐतिहासिक बैठक हुई। डॉ० कस्ट इस कांग्रेस के सदस्य थे। इसी कांग्रेस के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० ब्यूलर ने प्रस्ताव किया जिसे प्रोफेसर वेबर ने समर्थन किया। इस प्रस्ताव में भारत सरकार से अनुरोध किया गया था कि वह भारतवर्ष की भाषाओं का A DELIBERATE SYSTEMATIC SURVEY कराए। कांग्रेस में यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ जिसका भारत सरकार पर बड़ा प्रभाव पड़ा। कई आठ वर्ष के विचार विमर्श और सलाह मशविरे के बाद सन् १८८४ ई० में भारत सरकार ने इस महान् कार्य के लिए दृढ़ संकल्प किया। उस समय भारतवर्ष की आबादी उ तीस करोड़ चालीस लाख कूती गई थी जिसमें बाईस करोड़ चालीस लाख लोग ब्रिटिश इण्डिया के ही निवासी थे। इस सर्वेक्षण का काम प्रसिद्ध विद्वान सर जार्ज ग्रियर्सन को सौंपा गया। इस प्रकार वर्षों के कठिन परिश्रम से भारतवर्ष का पहला सर्वांगीण भाषा सर्वेक्षण प्रस्तुत हुआ। इस सर्वेक्षण के आधार पर पता चला कि भारतवर्ष में १६६ भाषाएं और ५४४ बोलियाँ हैं। परन्तु यह सर्वेक्षण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी त्रुटिहीन नहीं कहा जा सकता। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद कई बार यहाँ अनुभव किया गया है कि भाषा सर्वेक्षण का काम फिर से और नये सिरे से करना चाहिए। परन्तु नई परिस्थितियों में भाषा के साथ भावावेग अनुचित आसक्ति और राजनीतिक हानि लाभ की भावना इतनी जुड़ गई है कि वैज्ञानिक-तटस्थ दृष्टि बनने में बराबर कठिनाई अनुभव की जाती रही है। परन्तु कठिनाई कितनी भी क्या न हो भाषा सर्वेक्षण का महत्त्वपूर्ण कार्य स्थगित नहीं किया जा सकता। कुछ न-कुछ राजनीतिक लाभ हानि की भावना और भावावेग तो हमेशा बना ही रहेगा। ग्रियर्सन के भाषा सर्वेक्षण पर भी यह आरोप लगाया गया था कि उसमें तत्कालीन भारत सरकार की साम्राज्यवादी नीति काम कर रही थी। आवश्यकता है यथाशक्ति शुभ बुद्धि, निष्पक्ष वैज्ञानिक दृष्टि और सच्चे ज्ञान के प्रति अटूट निष्ठा की। जिसके भीतर ये बातें होंगी वही इस कार्य को ठीक ठीक कर सकेगा। भारतवर्ष अब स्वाधीन हुआ है। अब हमारी सभी भाषाएँ और सभी बोलियाँ अपनी हैं। हमारा पक्षपात हो तो सभी बोलियों के साथ होना चाहिए और होगा। इसी शुभ-बुद्धि से इस महान कार्य को हाथ में लेना चाहिए।

ग्रियर्सन ने जब भाषा सर्वेक्षण का काम शुरू किया था तो उस समय के

भाषा प्रेमी विद्वानों के सहयोग से कुछ पद्धतियाँ अपनाई गई थीं। उनकी जानकारी हमारे इस कार्य के लिए आवश्यक होगी। पहली बात यह तय की गई थी कि एक परिनिष्ठित या स्टैंडर्ड कहानी दी जाए जिसे भिन्न भिन्न स्थानियों के बोलनेवालों से अपनी भाषा में कहलवाया जाए और उसका शुद्ध लेखन किया जाए। यह भी निश्चय किया गया कि उस क्षेत्र में जो लिपि प्रचलित हो उसी में वह कहानी लिखी जाए और फिर उसे रोमन लिपि में उतार लिया जाए। हर प्रकार की ध्वनि रोमन लिपि में लिखी जा सके यह प्रयत्न बहुत सावधानी से किया गया। अनेक नए चिह्नों की योजना करके रोमन वर्णमाला को अधिक-से अधिक पूर्ण बनाने की कोशिश की गई। स्टैंडर्ड कहानी के लिए बाइबल की PARABLE PRODIGAL SON नामक कहानी चुनी गई। परन्तु भारतीय जनता की रुचि का ध्यान रखते हुए उसमें थोड़ा परिवर्तन भी कर दिया गया। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सभी वचन, कारक और लिंग आ जाते हैं। क्रियाओं के भी तीनों कालों के रूप आ जाते हैं और अधिकतर सर्वनाम रूप भी इसमें आ जाते हैं। परन्तु आशंका की बात यह थी कि अंग्रेजी न जानने वाले के लिए यह दुर्बोध्य थी। उसे अनुवाद करके हिन्दुस्तानी या अन्य किसी भाषा में समझाना पड़ता था और कहनेवाला उस अनुवाद का अनुवाद करता था। इससे मुहावरेदार सहज स्वाभाविक भाषा का परिचय मिलना कठिन हो जाता था। यद्यपि इस कहानी के अनुवाद से व्याकरण के ढाँचे का तो पता चल जाता था किन्तु उस बोली या भाषा का जीवन्त रूप सामने नहीं आ पाता था। इस कमी को पूरा करने के लिए एक दूसरी पद्धति यह थी कि बोलने वाले से उसी क्षेत्र में प्रचलित कोई लोक-कथा कहलाई गई। इसमें बोलनेवाले को पूरी स्वतन्त्रता थी कि वह अपनी इच्छा से स्वतन्त्रतापूर्वक जो भी कहना चाहे कहे। इन दोनों बातों के अतिरिक्त एक तीसरी बात और स्वीकार की गई। सर जार्ज कैम्पबल ने बहुत पहले भारतीय भाषाओं की एक परिनिष्ठित शब्द-सूची तैयार की थी जो बंगाल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में बहुत पहले प्रकाशित हो चुकी थी। इस सूची में कुछ और शब्द जोड़कर A STANDARD LIST OF WORDS बनाई गयी। प्रत्येक बोली में इनके लिए कौन-से शब्द प्रयुक्त होते हैं और इनका उच्चारण किस प्रकार का है यह जानने की कोशिश की गई। प्रत्येक जिला अधिकारी और पॉलिटीकल एजेंटों को ये सारी बातें अच्छी तरह समझा दी गई और इस प्रकार विभिन्न भाषाओं और बोलियों के नमूने इकट्ठे किए गए और भाषा सर्वेक्षण का कार्य सम्पन्न किया गया।

इन नमूनों का भाषा शास्त्रीय विश्लेषण बड़ी सावधानी से किया गया। सारे नमूने जब मिल गये तो देखा गया कि इनमें भाषाओं की संख्या २३१ है और बोलियों की ७७४। बाद में छानबीन करने पर मालूम हुआ कि यह संख्या ठीक नहीं है क्योंकि कई बोलियाँ दो या अधिक जिलों में बोली जाती हैं। इसीलिए कई बोलियों का नाम दो या तीन बार भी आ गया है। इन सबको भाषा शास्त्र की कसौटी पर कस कर देखा गया तो पता चला कि भाषाओं की संख्या वस्तुतः १६६ है और बोलियों की ५४४। परन्तु गलती की संभावना इसमें भी है क्योंकि सन् १९२१ की जनगणना में इन्हीं आधारों पर भाषाओं की संख्या १८८ बताई गई है।

स्पष्ट है कि जिला अधिकारियों और पोलिटिकल एजेंटों ने जिन लोगों को इस काम के लिए नियुक्त किया वे सभी भाषा शास्त्रीय नियमों के जानकार नहीं थे। इस काम में अधिकतर पटवारियों और पोस्टमैन जैसे लोगों से मदद ली गई। कई बार तो ऐसी बोलियों का पता चला जिनको जानने वाला कोई पढ़ा लिखा आदमी मिला ही नहीं। हिमालय में एक ऐसी बोली का पता चला जो तिब्बती परिवार की थी। उसके बोलनेवाले वहाँ थोड़े लोग थे जो तिब्बत से आकर वहाँ बस गये थे। उनकी भाषा आस पास के लोग बिल्कुल नहीं समझते थे। लेकिन उत्साही कार्यकर्त्ताओं ने उसके नमूने भी पेश कर ही दिये। ग्रियर्सन ने लिखा है कि उस बोली का नाम Was a solemn procession of weird monosyllabels wandering right across a page अर्थात एकाक्षरिक शब्दों की लम्बी कतार थी जो पूरा पन्ना घेरे हुए थी। मूड मार कर भी ग्रियर्सन इस नाम का कोई कूल किनारा नहीं खोज सके। दोबारा पूछ-ताछ करने पर रहस्य का पता लगा। पूछनेवाले राजकर्मचारी ने उस बोली के बोलने वाले से पूछा कि तुम्हारी बोली का नाम क्या है? उसने अपनी बोली में उत्तर दिया कि मैं कुछ भी नहीं समझ रहा हूँ कि आप पूछना क्या चाहते हैं—"I don't understand what you are driving at ?" कर्मचारी महोदय ने इस पूरे वाक्य को उस बोली का नाम समझ लिया। ऐसी ही कहानियाँ और भी हैं। इस कहानी से आप आसानी से समझ सकते हैं कि कर्मचारी महोदय ने भाषा का नमूना कैसा संग्रह किया होगा।

एक विचित्र बात यह है कि हिंदुस्तान की अधिकांश जनता यह नहीं जानती कि वह कौन सी बोली बोलती है। कम से कम ग्रियर्सन के समय तो यही अवस्था थी। हर बोली का नाम उसके पड़ोसियों का दिया हुआ है। पंजाब के दक्षिण और बीकानेर के उत्तर में एक बोली बोली जाती है उसका

नाम है जगली । परन्तु बालने वालो म से कोई भी अपनी बोली जगली' कहने का तयार नही हुआ । पडोसियो न ही उसको यह नाम द रखा था और लिग्विस्टिक सर्वे म वह नाम उजागर भी हो गया । मेरी अपनी बोली का नाम भोजपुरी है। परन्तु गाव के लोग यह नहीं जानत कि उनकी बोली का नाम भोजपुरी है। यह नाम अग्रेज सिपाहियो का दिया हुआ है। कुछ लोग एक सामान्य भाषा का नाम जानते हैं और उसी से अपनी बोली का भी परिचय दे दिया करत है। भाषा सर्वेक्षण का काम करनेवालो को इन सब बातो का सामना करना पडगा। हो सकता है कि लिग्विस्टिक सर्वे ऑफ इडिया म दिए हुए नामो म अधिकाश कल्पित या बनावटी जान पड । आपको बडी सावधानी क साथ सही स्थिति का पता लगाना होगा। पडोसियो के दिए हुए नाम कभी कभी घृणा सूचक या उपहास सूचक होते हैं। जसे बगाली लोग पूर्वी बिहार वालो की भाषा को खोट्टा भाषा कहते है और स्वय बिहार वाले मथिली को छिकाछिकी । कहने का मतलब यह है कि केवल दूसरो की बात पर अध भाव से विश्वास करन की जरूरत नहीं है। स्वय विश्लेषण करके उचित तथ्यो का पता लगाना चाहिए।

भाषा सर्वेक्षण करनेवालो क सामने एक प्रश्न यह भी रहा है कि भाषा और बोली का अन्तर कसे किया जाए। यूरोपियन विद्वानो म एक मान्यता यह रही है कि बोली विभिन्न क्षेत्रो की घरेलू भाषा है। कई बोलियो के लोग आपसी व्यवहार क लिए एक सामान्य भाषा का व्यवहार करते हैं जिसे सभी बोलियो के बोलनेवाले समझ जात हैं। यह मान्यता व्यावहारिक दृष्टि से ठीक कही जा सकती है। पर भाषा शास्त्रीय कसौटी पर ठीक नही उतरती। ग्रियसन ने कहा है कि लगभग समूचे उत्तरी भारतवष म लोग एक सामान्य भाषा हिन्दी हिंदुस्तानी को समझ लत हैं फिर भी भाषा शास्त्रीय दृष्टि से मथिली भोजपुरी कमायूनी गढवाली भाषाएँ एक नहीं हैं। उनका परिवार अलग है। साधारणत क्रियापद सवनाम और वाक्य रचना से परिवारो क भेदक लक्षणो का ज्ञान होता है। हमारे सविधान म चौदह (अब पद्रह) भाषाएँ मानी गई है। पर भाषा शास्त्री इसे व्यावहारिक भेद ही कहेगा। भाषा शास्त्र की दृष्टि म हिंदी और उर्दू अलग भाषाएँ नहीं है। हिंदी को लिखा जानेवाला भाषा शास्त्रीय रूप भोजपुरी और अवधी के उतना निकट नही है जितना पजाबी या गुजराती का रूप। इसी प्रकार बिहार की भाषाएँ बगला के अधिक निकट हैं। इस बात की अधिक सावधानी से जाँच होनी चाहिए कि विभिन्न बोलियो का असली परिवार क्या है। इस विषम सामयिक राजनीति का यथासभव दूर

रखना चाहिए। राजनीति बदलती रहती है भापा अधिक स्थायी वस्तु है।

जिस क्षेत्र के भाषा सर्वेक्षण का काय आप करन जा रहे है उसका गठन ही भापा के आधार पर हुआ है। कुछ दिन पूव तक 'पजाव बहुत बडा क्षत्र था। दश विभाजन के बाद वह आधा स भी कम रह गया। अब नये सिरे स जिस राज्य को हम पजाब कहत है वह बिल्कुल पजाबी भापा भाषी क्षत्र है। इसके वतमान रूप की कहानी आप सबको मालूम है। पर इस तथ्य से आपका काम आसान नहीं हो जाता। पजाबी यहाँ की मुख्य भाषा है। पर और भाषाए यहाँ है ही नही यह नही समझना चाहिए। जिस भाषा या बोली के बोलने वाल दस आदमी ही हो वह भी भाषा और बोली ही है। लिंग्विस्टिक सर्वे का कायकर्त्ता उसे भूल नही सकता और न उपेक्षा कर सकता है। इनस भाषाओ और बोलियो की सख्या अधिक बढ जा सकती है फिर भी पजाबी भाषा का महत्त्व उसस घटनेवाला नहीं है। भाषा सर्वेक्षण वैज्ञानिक अध्ययन है। व्यवहार के क्षेत्र मे उसके सैकडो प्रकार क उपयाग हो सकत है। उत्तरी अमरिका की राजभाषा अग्रेज़ी है। वही वहाँ की मुख्य भाषा है पर भाषा सर्वेक्षण स पता चलता है कि वहा अग्रेज़ी के सिवा लगभग २५ परिवारा की ३४५ भाषाए बोली जाती हैं। केन्द्रीय अमेरिका और मक्सिको म २० परिवारा की कोई ८४ भाषाए हैं और दक्षिण अमेरिका म लगभग ७७ परिवारो की ७७६ भाषाए बोली जाती हैं। कुल अमरिका म १२२ परिवारा की १२०५ भाषाएँ बोली जाती हैं। इनम अग्रेज़ी या अन्य यूरोपीय भाषाओ का नही जोडा गया है। इससे स्पष्ट है कि भाषा सर्वेक्षण करनेवाला न छोटे-स छोटे समुदाय की भाषा को भी छाडा नही है। पर इस बडी सख्या स अग्रेज़ी क राजभाषा हान म कोई बाधा नहीं आती। इस विशाल सख्या का दखत हुए भारतवष की १६६ भाषाए और ५४४ बोलियाँ बहुत कम दिखती हैं।

ग्रियसन क भाषा-सर्वेक्षण की चर्चा हम कर चुक हैं। दूसर दशा म छोटे छोटे ज़िला या तहसीला को लकर उनका सर्वेक्षण किया गया है और भाषाओ या बोलिया क एटलस तयार किए गए हैं। १८२१ स पहल श्मलर न बवेरियन उपभाषाओ का काम किया था। १८७३ म स्कॉट नामक अग्रेज़ी विद्वान न इग्लिश डायलक्ट्स सोसायटी की स्थापना की थी। और इगलैंड की बोलिया का एटलस तयार किया था। १८७६ म जमन पण्डित जाज वेंकर न राइन की बोलिया का सर्वेक्षण किया था और बाद म पूर जमनी की सरकारा सस्थाना म और स्कूली शिक्षकों क उत्साहपूर्ण सहयोग स भाषाओ का बहुत शानदार काम किया था। पर विद्वाना को इस काय म सन्तोष नहीं हो सका

क्योंकि सहयोग देनेवाले में उत्साह तो बहुत था पर इस विषय का प्रशिक्षण नहीं मिला था। और भी बहुत काम हुए हैं। इनका नाम गिनाना यहाँ अभिप्रेत नहीं है। परन्तु १९२९-४३ के कनाडा के न्यू इंग्लैंड के कुरथ द्वारा बनाये हुए एटलस की चर्चा कर देना उचित समझता हूँ। भारतीय भाषाओं के विभिन्न क्षेत्रों में भी कुछ काम हुए हैं। वस्तुतः क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन की यह भाषा-शास्त्रीय शाखा (जिसे लिंग्विस्टिक जियाग्रफी या भाषा भूगोल नाम दिया गया है) काफी महत्त्वपूर्ण बन गई है।

अब तक इस विषय पर जिन लोगों ने काम किया है वे थोड़े-बहुत भेद के साथ मोटी तौर पर एक ही पद्धति से काम करते रहे हैं। जिस क्षेत्र का अध्ययन करना होता है उसे कई विभागों में बाँट लिया जाता है और वहाँ की सामाजिक और अन्य परिस्थितियों की मोटी रूप रेखा बना ली जाती है। यह जरूरी है। इसलिए कि जिस क्षेत्र में काम करना हो उसके सामाजिक धार्मिक विश्वासों अन्धविश्वासों और रीतिरस्मों की जानकारी न होने से कार्यकर्त्ता को कभी-कभी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उस बोली के प्रतिनिधि वक्ता का विश्वास अर्जन करना पड़ता है, नहीं तो यदि लोग उसे सदेह की दृष्टि से देखने लगे तो ठीक उत्तर नहीं देंगे या बिल्कुल सहयोग नहीं करते। आजकल इस पद्धति को फील्ड मैथड कहा जाता है और इस पर अनुभवी लोगों ने पुस्तकें भी लिखी हैं। भाषा का अध्ययन पाँच दृष्टियों से किया जाता है—ध्वनि रूप शब्द वाक्य और अर्थ। ऐसी कहानियाँ लोगों से कहलाने के लिए चुनी जानी चाहिए जिनमें भाषा के सभी रूप मिल जा सकें। यह ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि जिस व्यक्ति से सूचनाएँ संग्रह की जा रही हों वह यथासम्भव बाहरी बोलियों या साहित्यिक भाषा से प्रभावित न हो। पहले केवल संग्रहकर्त्ता के सुनने और ठीक-ठीक लिख सकने की क्षमता पर ध्यान दिया जाता था अब टेप-यन्त्रों के आविष्कार के बाद से इसकी सहायता ली जाने लगी है। पर अनुभव से देखा गया है कि कभी-कभी इस यंत्र का ही सुनना की करामात मान लिया गया है और संग्रहकर्त्ता को परेशानी उठानी पड़ी है। पिछड़े इलाकों में इस बात की अधिक आशंका होती है। इसीलिए सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है। भाषाओं और बोलियों की विभाजक रेखाओं के निश्चयन के लिए आइसोग्लास या आइसोफोन पद्धति प्रचलित है। इससे उन विभाजक रेखाओं का पता लगता है जहाँ से भाषा में परिवर्तन के चिह्न स्पष्ट होने की ओर झुकने लगते हैं। इस विषय के जानकार अब हमारे देश में बहुत तो नहीं पर मिल जाएँगे। सर्वेक्षण

प्रारम्भ करने के पूर्व हम पूर्ववर्ती विद्वानों के अनुभव और आधुनिक पद्धतियों पर सावधानी से विचार कर लेना चाहिए। भाषा और बोलियों के नक्शों को आजकल बहुत महत्त्व दिया जाता है। ध्वनि शब्द वाक्य विन्यास अर्थ आदि की रेखाएँ प्राय भिन्न भिन्न क्षेत्रों को लिया करती हैं। फिर भी कुछ ऐसे स्थान होते हैं जहाँ वे प्राय मिल जाती हैं और पास-पास आ जाती हैं। इन्हीं मिली हुई या सटी हुई रेखाओं से बोलियों का क्षेत्र विभाजन होता है। पर कितनी भी सावधानी क्यों न बरती जाए, स्पष्ट विभाजन रेखा प्राय कल्पित रेखा ही होती है। भाषा एक जीवन्त तत्त्व है। उसे भौतिक पद्धतियों से सीमाबद्ध करना कठिन है। प्राय एक क्षेत्र की विशेषताएँ दूसरे में मिल जाया करती हैं। भाषा सर्वेक्षण के समय यह सदा याद रखना चाहिए कि बहुत सुकुमार प्राणवन्त वस्तु की जाँच की जा रही है।

पंजाब राज्य कई बार विभाजित हुआ है। पाकिस्तान के बाद जो विभाजन हुआ उससे भाषा विषयक उथल पुथल हुई है और पुरानी परिस्थितियों में बड़ा अन्तर आ गया है। विभिन्न बोलियों के बोलने वाले झुण्ड के झुण्ड लोग इधर से उधर और उधर से इधर आ गए हैं। पंजाबी भाषा शब्द के पुराने अर्थों में अन्तर आया है। किसी समय सिराइकी हिंदकी के लिए इस शब्द का प्रयोग होता था। सिराइकी शब्द का अर्थ है ऊँची भूमि की भाषा। सिरा ऊँची भूमि को कहते हैं। परिनिष्ठित लहन्दा जिसे लायलपुर में अधिक परिनिष्ठित रूप में पाया जाता है कभी पंजाबी भाषा के नाम पर समझी जाती थी। लहन्दा या लन्दी का अर्थ पश्चिमी है। यह सूर्यास्त के अर्थ में प्रयुक्त शब्द है। पूरे पंजाब के पश्चिमी भाग की भाषा को यह नाम दिया गया था। वस्तुत लहन्दे दी 'बोली' अर्थात पछाँही भाषा से अंग्रेज अधिकारियों ने इस शब्द को ले लिया था। कभी हिन्दुओं की भाषा होने के कारण हिन्दकी जाटों की भाषा होने के कारण जटकी उच्च वस्त्व के नाम पर इसे उच्ची नाम दिया गया। ग्रियर्सन ने ही इसके परिनिष्ठित रूप को सुपरिभाषित नाम दिया। उनके अनुसार इनके बोलने वालों की संख्या कोई ४८००० के आस पास थी। अब कितने लोग हैं कितने बाहर चले गए हैं और कितने अन्य क्षेत्रों से आकर लहन्दा भूमि में आकर बस गए हैं इसका अभी तक ठीक ठीक पता नहीं है। आज पंजाबी शब्द का प्रयोग साहित्यिक भाषा के लिए अधिक रूढ़ हो गया है। परिनिष्ठित पंजाबी का शुद्ध भाषावैज्ञानिक ढाँचा केन्द्रीय पंजाब के मैदानों में है। अमृतसर के आस पास का इलाका मध्यभूमि का माझ कहा जाता था। माझ की भाषा माझी के अति रिक्त जालंधरी दोआबी पावाइ राठी मालवाई भट्टियानी (जिसमें बीकानेरी

राठी, फाजिल्काई बागडी फिरोजपुरी, राठौरी है) आदि से प्रचुर उपादान लेकर साहित्यिक परिनिष्ठित पंजाबी का गठन हुआ है। विभाजन के बाद इसमें कौन-कौन नए उपादान आए हैं, यह आज के प्रयत्नों से स्पष्ट होगा। पाकिस्तानी पंजाब की अनेक बोलियों के बोलनेवाले इन प्रदेशों में आ बसे हैं। निश्चय ही भाषा उनके सम्पर्क से प्रभावित हुई होगी।

भाषा का अध्ययन हमारे सांस्कृतिक विकास और आदान प्रदान को स्पष्ट करता है। यह उचित ही है कि भाषा के सर्वेक्षण के साथ साथ हम सांस्कृतिक सर्वेक्षण की ओर भी अग्रसर हों। भाषा में प्रयुक्त एक एक शब्द, एक-एक स्वराघात कुछ सूचना देते हैं। व्यक्तियों के नाम, कुलों या खानदानों के नाम पुराने गांवों के नाम जीवन्त इतिहास के साक्षी हैं। हमारे रीति रस्म, पहनाव, मेले, गान नाच पर्व त्यौहार उत्सव हमारे पुराने इतिहास की कथा सुना जाते हैं। यह आश्चर्य और कुतूहल की ही नहीं उल्लास और आशा की बात है कि उपरले स्तर पर जहाँ इतिहास हमे लड़ाई झगड़े और मारा मारी की बात बताते हैं वहीं गहराई में हमारे शब्द हमारे स्वराघात, हमारे गाव हमारे त्यौहार हमारे मन भजा उठाकर घोषणा करते हैं कि उपरले स्तर पर जहाँ राज्यलिप्सा है झगड़े हैं धक्का मुक्की है वहीं गहराई में मिलन की तैयारी होती रहती है। मनुष्य मिल रहा है लन्दे रहा है एक हो रहा है। कभी पंजाब में नागों का और आर्यों का कितना भयंकर संघर्ष था—इसका आभास हम महाभारत के अर्जुन द्वारा दिए गए खाण्डव वन दाह और जनमेजय द्वारा अनुष्ठित नाग यज्ञ से मिलता है। न जाने कब वह संघर्ष कहां विला गया पर नागों के देवता या उनके आठ कुलों में से एक के नेता कर्कोट या गगोट आज भी गुग्गा पीर या गोगा पीर के नाम से पूजे जा रहे हैं। पुरानी यक्ष सभ्यता पता नहीं कहाँ चली गई पर मनर कोटला (कोटला-मोटर) में शताब्दियों से चली आती हुई यक्ष रात्रि का उत्सव आज भी मुस्लिम संतों के संरक्षण में जी रहा है। हिमालय में दूर-दूर तक फैली हुई खस जाति अब कहीं है या नहीं यह पण्डितों के अध्ययन का विषय बना हुआ है पर खसपल्ली कमौनी के रूप में जी रही है और स्मरण दिलाती है कि किसी जमाने में खस यहाँ बसते थे। अम्बाला से जालन्धर तक न जाने कितने गाँव सन्त पर ही मिट जाते हैं जिनके अन्त में आला लगा हुआ है। लुधियाना का पुराना नाम भी कदाचित् लुधियाना था और वर्ण विपर्यय से उसी प्रकार लुधियाना बन गया है जिस प्रकार नफासत पसन्द लोगों के मुँह में नखलऊ लखनऊ बन जाता है। क्या गाँवों की यह नामावली किसी विशेष सभ्यता की सूचना नहीं देती? कौन-सी सभ्यता या

की कठिनाइयों से जूझकर आगे बढ़ने की, सब प्रकार के क्षुद्र स्वार्थों की अपेक्षा देश हित को ऊपर रखने की और आवश्यकता पड़ने पर देश के कल्याण के लिए सब कुछ को निछावर कर देने की परम्परा मामूली परम्परा नहीं है। हम इतना और आस्था के साथ इस परम्परा को कायम रखना है। देश के सामने जो नई परिस्थितियाँ आई हैं नवीन शक्तियों से मुक्त होने से जो नई उलझनें पैदा हुई हैं उनके लिए आज के युवकों को नये ढंग से प्रस्तुत होना होगा। इस विश्वविद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को स्मरण रखना होगा कि उसे अपने विश्वविद्यालय के महान संस्थापक की आशाओं के अनुरूप बनना है।

परन्तु यह नई उलझनें क्या है? हमारी सभ्यता हजारों वर्ष पुरानी सभ्यता है। इसके गुणों और अवगुणों की जड़ गहराई तक पैठी हैं। नई शिक्षा के फलस्वरूप हमारे समाज के सोचने विचारने वाले अंश में नई दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है जो सब समय इस शिक्षा से अपरिचित जन समूह की दृष्टि से मेल नहीं रखती। नई शिक्षा ने हमारी दृष्टि धीरे धीरे परलोक से हटाकर इसी मर्त्यलोक के मर्त्यजीवन की ओर केन्द्रित कर दी है। हमने क्रमशः यह अनुभव करना शुरू किया है कि मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाना ही हमारा महान कर्तव्य है। इस दृष्टि के प्रतिष्ठित होने के फलस्वरूप जीवन की प्रत्येक क्रिया और विचारों में मानो में परिवर्तन हुआ है। जिस समाज-व्यवस्था को पहले यत्न पूर्वक सुरक्षणीय माना जाता था उसके प्रति शिक्षितों की आस्था क्रमशः क्षीण होती जा रही है। सिद्धान्त रूप में हमने मनुष्य मात्र की समता और उसे इसी जीवन में सुखी और समृद्ध बनाने की बात स्वीकार कर ली है। अपने विधान में हमने देश के प्रत्येक प्राणी को यह समानता का अधिकार दे दिया है। किन्तु हमारे पुराने संस्कार भी बने हुए हैं। पुराने संस्कारों के साथ नये विचारों का विचित्र मिश्रण चल रहा है। सब समय सबके लिए यह समझना कठिन हो जाता है कि जीवन-व्यापारों का जो मान परिवर्तित हो रहा है उनका वास्तविक स्वरूप और उपयोगिता क्या है। इस बात की ठीक ठीक जानकारी के लिए गम्भीर अध्ययन और अनासक्त दृष्टि की आवश्यकता है। इसलिए हमारा सबसे प्रथम कर्तव्य है गम्भीर अध्ययन और अनासक्त दृष्टि की प्राप्ति। देश और काल में व्याप्त मनुष्य के प्रत्येक अंग का सूक्ष्म अध्ययन करते हुए हम उसके विचारों और क्रियाओं का यथार्थ स्वरूप समझ सकते हैं और बदलते चार या बदलते हुए मानों की वास्तविक गति और उपादेयता जान सकते हैं। इसके लिए कठोर परिश्रम की आवश्यकता है। ऐसे अध्ययन के द्वारा हम अपनी समस्याओं का ठीक ठीक स्वरूप समझ सकते हैं। इसलिए गम्भीर अध्ययन हमारा प्रथम

कर्तव्य है। हम लोग इस विश्वविद्यालय में मुख्य रूप से इसी उद्देश्य से एकत्र हुए हैं। इस बात को हमें कभी नहीं भूलना चाहिए।

किंतु विश्वविद्यालय में हम केवल ज्ञान पा लेने के उद्देश्य से ही नहीं आते। ज्ञान का यथार्थ अधिकारी बने बिना कोई ज्ञान नहीं पा सकता। इसलिए हमें अधिकारी भी बनना चाहिए। जिसमें श्रद्धा नहीं होती और तपस्या नहीं होती उसे ज्ञान नहीं देना चाहिए—यह प्राचीन आचार्यों का निर्देश है। गीता में भगवान ने कहा है कि जो अधिकारी न हो जिसमें तप और भक्ति न हो उसे यह ज्ञान नहीं देना चाहिए और आधुनिक अनुभव बताता है कि ऐसे अनधिकारी को यदि यह ज्ञान दिया भी गया तो लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होती है।

गम्भीर अध्ययन के लिए संयत जीवन की आवश्यकता है। पिछले कई वर्षों के शिक्षा विशारदों के मत का विश्लेषण किया जाए तो जान पड़ेगा कि विद्यालयों की अनुशासन हीनता सबसे अधिक उनकी चिन्ता का कारण रही है। यह बड़े दुःख की बात है क्योंकि यदि सचमुच ही देश की उगती हुई पीढ़ी में अनुशासनहीनता आ गई है तो देश का भविष्य अन्धकारमय है। जिसने आरम्भिक जीवन में विचारगत संयम और आचारगत मर्यादा की बात नहीं सीखी वह आगे चलकर क्या सीखेगा। बड़ी चीज़ का दाम भी बड़ा होता है। जिस गम्भीर अध्ययन और अनासक्त दृष्टि के पाने के लिए हम विश्वविद्यालयों में एकत्र होते हैं उसके लिए बहुत बड़े मूल्य को चुकाने की आवश्यकता है। वह मूल्य रुपयों पैसों में नहीं चुकाया जा सकता। आत्मदान ही उसका यथार्थ मूल्य है। ज्ञान को प्राप्त करने के लिए बड़े संयम की आवश्यकता होती है और संयम वह वस्तु नहीं है जो अनायास प्राप्त हो जाए। उसके लिए प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने की आवश्यकता होती है। प्रयत्न करना मनुष्य का सहज धर्म है। इसलिए प्रयत्न से घबराना नहीं चाहिए। साधारणतः इस विषय का सारा दोष विद्यार्थियों के मत्थे मढ़ दिया जाता है। पर सचाई यह है कि विद्यार्थी केवल पुस्तकों में लिखे हुए या बड़े-बूढ़ों के कहे हुए उपदेशों से शिक्षा नहीं ग्रहण करता—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वृक्ष केवल दूसरों के हाथ से ढरकाए हुए पानी से जीवन नहीं पाता—वातावरण से भी उसे रस लेना पड़ता है। वृक्ष तभी स्थायी होता है जब वह वातावरण से सहज भाव से रस खींचने लगता है। हमारे देश के अधिकांश विद्यालयों में इस प्रकार के वातावरण की कमी है जहाँ से विद्यार्थी को संयमित विचार और मर्यादित जीवन की सहज शिक्षा मिल सके। उस प्रकार के वातावरण की आवश्यकता है। पर यह हो कैसे? जब तक विद्यालय का प्रत्येक प्राणी प्रयत्नपूर्वक संयत विचार और

मर्यादित जीवन का अभ्यासी नहीं होता तब तक वातावरण नहीं प्रस्तुत होता और जब तक वातावरण नहीं प्रस्तुत होता तब तक विद्यार्थी सहज ढंग से अनुशासित जीवन की शिक्षा नहीं पा सकता। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को इस ओर सावधान रहना चाहिए। वातावरण बनाने के लिए प्रयत्न करना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है। संयत और मर्यादित जीवन से मनुष्य धार्मिक बनता है।

हमारे विश्वविद्यालय के संस्थापक ने बार बार धर्ममय जीवन पर जोर दिया था। विश्वविद्यालय के बारहवें उपाधि वितरणोत्सव के अवसर पर उन्होंने कहा था कि हम धर्म को चरित्र निर्माण का सीधा मार्ग और सांसारिक सुख का सच्चा द्वार समझते हैं। हम देशभक्ति को सर्वोत्तम शक्ति मानते हैं जो मनुष्य को उच्चकोटि की निःस्वार्थ सेवा करने की ओर प्रवृत्त करती है। उन्होंने इन्हीं दो बातों के आधार पर विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में चरित्रवत्ता लाने की बात सोची थी। आज जब समूचे देश में अनुशासन के अभाव की बात कही जा रही है तो कम से कम हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों तथा अन्य लोगों को तो अपने संस्थापक के महान आदर्शों को मूर्त रूप देने का व्रत ले ही लेना चाहिए।

देशभक्ति शब्द का प्रयोग तो बहुत होता है पर बहुत कम लोग समझते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है। देश की सेवा कहने से भी वह सब बात नहीं प्रकट होती जो देशभक्ति शब्द का प्रतिपाद्य है। देश केवल मानचित्र नहीं है। देश सेवा का अर्थ है देश के कोटि-कोटि लोगों को अज्ञान, कुशिक्षा दारिद्र्य और परमुखापेक्षिता से बचाना। जिसके मन में यह बड़ा संकल्प आ जाएगा वह कभी निचली श्रेणी के स्वार्थ का शिकार नहीं हो सकता। इस देश की समूची जनता को ठीक-ठीक समझने के लिए इस देश के ज्ञानहीन की जानकारी आवश्यक है इस देश की समस्त प्राकृतिक शक्तियों की—जंगलों पहाड़ों की खनिजों की नदियों की—ठीक ठीक जानकारी अपेक्षित है इनका सर्वोत्तम उपयोग कैसे किया जाए इस कौशल की जानकारी भी जरूरी है और इस में बसी हुई सैकड़ों जातियों उपजातियों श्रेणियों और जमातों के आचार विचार धर्म नियम रीति-नीति का अध्ययन भी आवश्यक है। जो इस विशाल देश की सेवा करना चाहता है उसे इसकी समाज-व्यवस्था को सूक्ष्म परिश्रम से समझना चाहिए। सबके लिए गम्भीर अध्ययन और अविचल मनोयोग की आवश्यकता है। बिना ठीक वस्तुस्थिति को समझे देश-सेवा करने का काम सफल हो सकता नहीं है। विश्वविद्यालय ही इस प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने के उत्तम केंद्र हैं।

विश्वविद्यालय की शिक्षा का उद्देश्य है जनता को ठीक-ठीक समझना और समझकर उचित कल्याण मार्ग की ओर ले जाना।

परन्तु देश-सेवा ही देशभक्ति नहीं है। यदि सेवा करनेवाले के मन में कोई ऐसी भावना हो कि वह कुछ उपकार करता है, दया करता है तो वह देश की जनता की ठीक सेवा नहीं कर सकता। इसलिए हमारे संस्थापक ने 'देश भक्ति' शब्द का प्रयोग किया था। देश की जनता में अखण्ड विश्वास और श्रद्धा के भाव लेकर ही हम उनकी सेवा कर सकें तो अच्छा हो। मनुष्य की सेवा में ही परमात्मा की सेवा है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि विश्वविद्यालय में ज्ञान की साधना बहुत ही पवित्र है। जितना ही हम इस पवित्रता का ध्यान रखेंगे उतना ही हमारा अध्ययन गम्भीर होगा। इस पवित्र कर्तव्य को स्मरण रखने से हमारे अध्ययन में गम्भीरता, उत्तरदायित्व और कल्याणबुद्धि आएगी और हमारे भीतर अनासक्त और अनाविल दृष्टि प्रतिष्ठित होगी।

हिन्दी पर वैष्णव धर्म का प्रभाव

मध्य युग म भक्ति की एक नई धारा भारतीय महाद्वीप क इस छोर से उस छोर तक बह गई और देखत देखत इस विशाल देश को एक नये रूप म बदल दिया। भाषा शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित डाक्टर ग्रियसन[1] मध्ययुग के इस आन्दोलन क सम्बन्ध म कहते हैं— 'बिजली की चमक के समान अचानक इस समस्त (अर्थात पुरान धार्मिक मना के) अ धकार के ऊपर एक नई बात दिखाई दी। कोई हिन्दू नही जानता कि यह बात कहा से आई कोई भी इसके प्रादुर्भाव का काल निश्चित नही कर सकता किन्तु व सभी शास्त्रीय ग्रन्थ जो इस (भक्ति) के सम्ब ध म लिखे गये है और जिनका काल निश्चयपूवक बताया जा सकता है, ईसाई सन के बहुत बाद लिखे गये है। इसीलिए डाक्टर साहब इस नयी बात का अनुभव कर सके है।[2] आपका कहना है कि यह बात मद्रास प्रान्त म आकर बस गये नेस्टोरियन सम्प्रदाय के ईसाइया स ग्रहण की गई है। यही विद्वान एक दूसरी जगह लिखते हैं— कोई भी मनुष्य जिस १५वी शताब्दी का भारतीय साहित्य पढ़न का अवसर मिता है उस भारी व्यवधान का लक्ष्य किय बिना नही रह सकता जो प्राचीन और नयी (धार्मिक भावनाओ) म विद्यमान है। हम अपने को एक ऐस धार्मिक आन्दोलन क सामन पाते है जो

---

१ ग्रियसन Modern Hinduism and its debt to the Nestorians Journal of the Royal Asiatic Society (J R A S) Page 313 1907

२ Grierson Bhaktimarga Encyclopedia of Religion and Ethics Vol 2 1909

उन सब आन्दोलना से कही अधिक विशाल है, जिन्हे भारतवष ने कभी भी देखा है—यहा तक कि वह बौद्ध धम के आन्दोलन से भी अधिक विशाल है, क्योंकि इसका प्रभाव आज भी वतमान है। धम ज्ञान का विषय नही, रस' (Emotion) का विषय हो गया था। इस समय स हम साधना और प्रमोल्लास (Mysticism and rapture) के देश म आते हैं और ऐसी आत्माओ का साक्षात्कार करत हैं जो काशी के दिग्गज पडितो की जाति की नही है, बल्कि जिनका सम्बन्ध मध्ययुग के यूरोपियन मरमी (Mystic) बनड आफ क्लेयर ववस (Bernerd of Clairvaux), थामस ए-केम्पिस (Thomas a Kempis), एखट (Ekhert) और सेन्ट थेरिसा (St Therisa) से है।"
डाक्टर ग्रियसन के इन दो उद्धरणो से यह बात स्पष्ट ही प्रकट हो जाती है कि भारतीय मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन ससार के इतिहास म बेजोड है। जसा कि डाक्टर साहब न बताया है, इस युग का धम, ज्ञान का विषय नही रस का विषय है। दूसरे शब्दो मे हम कह सकते है कि इस युग के धम और कला को अलग अलग रखकर विचार नही किया जा सकता। क्या वास्तु शिल्प, क्या मूर्ति शिल्प क्या चित्रकला क्या काव्य क्या नत्य और क्या सगीत—सबम एक ही बात दिखाई देती है। और वह यह कि समस्त भारतीय अन्तरीप एक सिरे स दूसरे सिरे तक भक्ति—विशेषकर वष्णव भक्ति की शक्तिशाली तरग स आक्रान्त हो उठा था। इस बात का महत्त्व तब और भी बढ जाता है जब हम देखत हैं कि इसी युग म भारतवष विदेशी धम और विजातीय संस्कृति का करुणाजनक शिकार बना हुआ था।

ग्रियसन ही को नही, उनके पूववर्ती अनक पडितो को भी यह सन्देह हो चुका है कि भक्ति आन्दोलन ईसाइयत की दन है। वेबर और लसन न भी यह सन्देह किया था। डाक्टर साहब की शकाओ का समाधान हमन सूर साहित्य' की भूमिका म किया हैं। ग्रियसन साहब के सामने ही सस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पडित श्रीयुत (अब डॉक्टर) कीथ ने उनकी प्राय समस्त युक्तियो का खण्डन कर दिया था।[1] परन्तु जब हम मध्ययुग के उस रहस्यमय युग म एकाएक भक्ति

---

१ इन सब बातो की विस्तृत आलोचना के लिए निम्नलिखित कई प्रबध द्रष्टव्य हैं—[1] Modern Hinduism and its debt to the Nestorians - Grierson, [2] The Child Krishna Christianity and the Gujars (J R A S 1907) [3] उक्त नाम का प्रबध A B Keith (J R A S 1908)

आंदोलन के प्रबल स्रोत का अनुमान करते हैं तो इन विदेशी पण्डितों के इस विश्वास को आश्चर्यजनक नहीं कह सकते कि भारतीय साधना में भक्ति बाहरी उपादान है। उनका यह भ्रम स्वाभाविक है। असल बात यह है कि जिस प्रकार मनुष्य के दुर्बल और रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी शक्ति एकाएक प्रबल वेग से जाग पड़ती है, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के रोगाक्रान्त होने पर उसकी जीवनी शक्ति अर्थात् भक्ति साधना वेग के साथ जाग पड़ी थी। हम इस प्रश्न के ऊपर फिर विस्तृत विवेचन करेंगे।

हिन्दी-साहित्य के ऊपर वैष्णव प्रभाव का अध्ययन एक विशाल कार्य है। मध्ययुग का हिन्दी साहित्य कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर समस्त वैष्णव साहित्य ही है। मिश्रबन्धुओं ने जिन नौ महाकवियों को हिन्दी का नवरत्न माना है जिनकी संख्या बाद में दस करनी पड़ी है उनमें से सात तो नख से सिख तक वैष्णव हैं। तीन—चन्द, कबीर और भूषण—और चाहे कुछ भी हों अ-वैष्णव नहीं हैं। मिश्रबन्धु विनोद के प्रथम दो भागों में जिन कवियों की चर्चा है, उनमें ८५ फीसदी पूरे वैष्णव हैं।[1] शेष में बहुत ही कम अवैष्णव हैं। साहित्य की धर्म के साथ इस प्रकार की अद्भुत एकात्मता संसार के इतिहास में विरल नहीं है। परन्तु कुछ ऐसी बातें हैं जिनके कारण वैष्णव साहित्य और वैष्णव साधना की एकता संसार के इतिहास में एक नयी बात है। यह बात क्या है यह समझने के लिए हम इस युग तक के साहित्यिक और धार्मिक विकास की एक साधारण जानकारी आवश्यक है।

भारतीय नाट्यशास्त्र के आरम्भ में ही एक ऐसी कथा आती है जो विद्वानों को चक्कर में डाल देती है। इस कथा के अनुसार देवताओं की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने 'नाट्य वेद' नामक पाँचवें वेद की रचना की थी। साधारणतया हिन्दू

---

१ यह वर्गीकरण इस प्रकार है—वैष्णव कवि ८४७६ प्रतिशत

सन्त (अर्थात् शास्त्र की परवाह किये बिना भक्ति करनेवाले)	३ ५६ ,,
मुसलमान	२ ७५ ,,
जैन	२ ७४ ,,
अन्यान्य	६ १३ ,,

यह सूची अपूर्ण हो सकती है। क्योंकि कितने ही कवियों के विषय में ठीक ठीक नहीं जाना जा सका कि उनकी कविता का विषय क्या है। यह ध्यान देने की बात है कि मुसलमान कवियों में से अधिकांश वैष्णव भावापन्न हैं और जैनों में भी कुछ वैष्णव ढंग के कवि हैं।

आचार्य किसी नये शास्त्र की नींव डालते समय उसका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार वेदों से जरूर स्थापित करते हैं। नाट्य शास्त्र की रचना के समय भी यह बात अवश्य प्रस्तुत हुई होगी। परन्तु जब कोई सीधा सम्बन्ध मिलना असम्भव हो गया होगा तब उक्त कथा के बल पर एक पाचवें वेद की कल्पना आवश्यक समझी गयी होगी। मामला पेचीदा इसलिए हो जाता है कि वस्तुत वेदों में ऐसे कथोपकथनों की कमी नहीं है जिन्हें आसानी के साथ नाटकों का मूल रूप कह सकते थे फिर नाट्य वेद की कल्पना शास्त्रकार ने क्या की ? प्रभावशाली विचार के लगभग सभी यूरोपियन पंडितों ने इस पर अपनी अपनी रायें दी हैं।[1] फलत मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना तो हो गई परन्तु कोई उचित समाधान नहीं हो पाया।

हमारी समझ में इस मामले का इतना पेचीदा हो जाना एक कल्पित किन्तु भ्रमात्मक सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर निर्भर है। यूरोपियन पण्डित यह मानकर ही कलम उठाते हैं कि भारतवर्ष में जो कुछ है वह वेदों से ही शुरू होता है। हम श्री मनमोहन घोष[2] का यह मत ठीक जान पड़ता है कि नाटक इस देश में आर्यों के आगमन के पूर्व ही वर्तमान थे। परन्तु उनमें पात्रों की बातचीत नहीं रहा करती थी व अभिनय प्रधान हुआ करते थे। इन अभिनयों का काम था रस का उद्रेक। आर्य-संसर्ग के बाद अभिनय के साथ-साथ कथोपकथन भी मिल गया। परन्तु नाटक का प्रधान उपकरण अभिनय रहता था और लक्ष्य निष्पत्ति। प्राचीन संस्कृत-नाटकों में लज्जा नाटयति' वृक्षसेचन नाटयति आदि प्रयोग इस अनुमान की पुष्टि करते हैं। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल के प्रसिद्ध टीकाकार राघवभट्ट ने वृक्षसेचन भ्रमरबाधा निवारण आदि अभिनयों की भंगी का भी निर्देश किया है।[3]

रस नाट्य का ही विषय था इस बात का और भी स्पष्ट प्रमाण है

---

१ इन मतों के लिए ए० बी० कीथ का 'इण्डियन ड्रामा' देखिए।

२ अभिनय दर्पण की प्रस्तावना (Introduction) XXIII--XXVI

३ देखिये अभिज्ञान शाकुन्तलम् राघव भट्ट की टीका (निर्णयसागर) वृक्षसेचन (पृ० २७) भ्रमरबाधा (पृ० ३४) शृंगारलज्जा (पृ० ४०) विचार (पृ० ४६) मुखोन्नयनपरिहार (पृ० १०६) कुसुमावचय (पृ० ११५) प्रसाधन (पृ० १२६ १३२) गतिभंग (पृ० १३१) अवतरण (पृ० १८६) रथाधिरोहण (पृ० २२) विशेष व्याख्या के लिए देखिये अभिनय दर्पण में मनमोहन घोष का Introduction।

मालकारिका की रस सूत्र की व्याख्या। वस्तुत मम्मट ने[1] जिन आलंकारिको का मत भारतीय नाट्यसूत्र के सिलसिले म उद्धृत किया है व सभी—लोल्लट, शंकुक भट्ट नायक और अभिनवगुप्त—नाट्य शास्त्र के ही व्याख्याता हैं और इनके मन म रसाश्रय की बात ही बहुत प्राय है। नाटक म रस की भाँति ही अलकार स्फुट काव्य का विषय समझा जाता था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अलकार सम्प्रदाय के प्राचीनतम आचार्यों—दण्डी और भामह—ने अलकार को ही प्रधान माना है। रस की चर्चा तो व करते ही नहीं। उनकी पुस्तको से यह अनुमान करना बिल्कुल कठिन नहीं है कि व रस को काव्य—अर्थात स्फुट श्लोक—का विषय ही नहीं समझते।[2]

आठवीं शताब्दी के आस पास अलकार शास्त्र म ध्वनि-सम्प्रदाय जोर पकडता दिखाई देता है।[3] ध्वनि या व्यग्य को काव्य की आत्मा मान कर और ध्वनि म भी रस ध्वनि को सर्वोत्तम स्थान देकर इस सम्प्रदाय ने अलकारशास्त्र को अभिनव जीवन दिया और एक बडा काय यह किया कि रस और अलकार दोनों को नाटक और स्फुट काव्य म समान रूप से उपयोगी

---

[1] काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास।

२ इसीलिए रुय्यक अलकारसवस्व (प० ७) मे कहते हैं—"तदेव अलकार एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम।

३ शब्द की तीन शक्तियाँ होती हैं [१] अभिधा अर्थात कोश व्याकरण सम्मत शब्द का साकेतिक अर्थ बतानेवाली शक्ति, [२] लक्षणा अर्थात सकेतार्थ से सबद्ध अन्य लक्षित अर्थ को बतानेवाली शक्ति और [३] व्यजना अर्थात अभिधेय और लक्ष्य के अतिरिक्त उनसे सबद्ध या असबद्ध अन्य अर्थों को व्यग्य करने वाली (Suggestive) शक्ति। सवप्रथम ध्वन्यालोक मे व्यग्य अर्थ (ध्वनि) की प्रधानता का युक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा की गई है। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन इस मत का वय्याकरणों के स्फोटवाद से उद्भूत बताते हैं। पर स्फोट' से इसका सम्बध केवल इसलिए बताया गया है कि इस मत को नवीन कहकर उड़ा न दिया जा सके। जो हो इसमे कोई सन्देह नहीं कि ध्वनि का जो सर्वांगपूर्ण विवेचन इस ग्रंथ मे किया गया है वह इस बात का प्रमाण है कि इसके बहुत पूर्व ही इस मत का अस्तित्व था। स्वय आनन्दवर्धन ही कहते हैं—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नात पूर्व'

—ध्वन्यालोक, १ १

बनाया। ध्वनि सम्प्रदाय ने अलकार प्रधान का य को 'अवर या अश्रष्ठ काटि म रखा। यद्यपि साहित्य दपणकार ने इसका काव्य की आत्मा बताया परन्तु असल म व ध्वनि को ही का यात्मा समझते रहे। मुख्य बात तो यह है कि प द्रहवीं शताब्दी तक ध्वनि सम्प्रदाय का ही बोलबाला रहा। साहित्य दपण मे सबस प्रथम इस शास्त्र म नायिकाभेद का प्रवेश हुआ। यद्यपि ध्वनि सम्प्रदाय के आचार्यों ने रस को काव्य का सवश्रेष्ठ उपादान मान लिया था। परन्तु रस को इतना अधिक स्थान नही दिया गया कि उसम नायिकाभेद भी मिला दिया जाए। रस रूपक विवेचना का प्रधान विषय समझा जाता था और उसी म नायिकाओ का वर्गीकरण भी सम्मिलित रहता था। यह ध्यान देने की बात है कि पद्रहवी शता दी म ही नायिका भेद और अलकार एक साथ विविक्त हुए। यह शता दी वस्तुत देशी भाषाओ के साहित्य की उन्नति की शताब्दी है।

साहित्यदपण क बाद एक ऐसे मत का प्रादुर्भाव दिखाइ दता है जो रस क अतिरिक्त अ य किसी बात को का य विवचना का विषय समझता ही नही या समझकर भी उस गौण स्थान देता है। इसी तरह एक दूसरा सम्प्रदाय ऐसा दिखाई दता है जो अलकार के अतिरिक्त अन्य किसी विषय की परवाह नही करता। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक ही आचाय इन दोनो विषयो पर अलग अलग ग्रन्थ लिखता है। परन्तु इस बात का अच्छा अध्ययन करना हो तो सस्कृत को छोडकर देशी भाषाओ के उदीयमान साहित्य की ओर देखना होगा। यहा वह अदभुत बात दिखाई देती है जिसे हजारो वष के भारतीय इतिहास म बेजोड कहा जा सकता है। ससार की बात तो हम नही जानते—वह बहुत बडा है—पर हमारी जानी हुई दुनिया म यह बात अद्वितीय है। यहा हम देखत हैं कि रस—विशेषकर रसो के राजा शृगार—के आलबना और उद्दीपनो का वर्गीकरण हो रहा है और उनके उदाहरणो क बहाने भगवान की लीला गाई जा रही है। आगे के सुकवि रीझिहैं तौ कवि ताई न तौ राधिका गुविन्द सुमिरन को बहानो है। अर्थात कविता करन के बहाने परम आराध्य का भजन या परम आराध्य क भजन के बहाने कविता। ललित कला के सुकुमारप्राण रस के साथ धार्मिक और दार्शनिक साधना क परमलक्ष्य का इस प्रकार एकीकरण अ यत्र दुलभ है। इस युग की देशी भाषाओ ने साहित्य का ससार को साहित्यिक साधना म यही महान दान है।

बगाल म सवप्रथम रूप गोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि नामक सस्कृत ग्रन्थ म इस प्रकार म रस का विवेचन किया। रूप गोस्वामी चत य महाप्रभु के भक्तो म स थ। इनका समय पन्द्रहवी शताब्दी का अन्तिम और सोलहवें

शताब्दी का प्रारम्भ था । यही पुस्तक संस्कृत म प्रथम बार भक्ति और अलकार शास्त्र का एक रूप म्कर लिखी गई । इसक बहुत पहल जयदव विद्यापति और चण्डीदास न प्रमुन सस्कृत मथिली और बगला म राधाकृष्ण की लीलाओ का गान किया था । परन्तु इस शास्त्र म नाम पर नायक-नायिकाओ का प्रथम वर्गीकरण यही था जिसम उदाहरण के लिए राधा माधव की लीलाओ का वणन किया गया । इस ग्रथ म उज्ज्वल या मधुर रस को जिस ग्रन्थकार भक्तिरस भी कहता है (मधुराख्या भक्तिरस १—३) मनुष्य का परम प्राप्तव्य बताया गया है । मधुर रस क आलम्बन श्रीकृष्ण ही हो सकत हैं दूसरा नही । गौडीय वष्णवो क मत स पाँच रस होते हैं—शान्त हास्य या प्रीति सख्य या प्रेम वात्सल्य और माधुय । इसी माधुय को उज्ज्वल रस कहत हैं । इस ग्र थकार भक्तिरस नाट या भक्तिरसो का राजा बताता है । इसके बाद बगाल म नायिकाओ और नायको क वर्गीकरण क अनुसार पद लिखन की चाल सी चल पडी । परन्तु इस प्रकार की रसव्याख्या स ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सम्प्रदाय का मुख्य विषय कविता नही भक्ति था । हिन्दी म जो रस ग्रन्थ लिख गए उनम भक्ति और कवित्व समान भाव स गुथ हुए थे । कहा-कहा तो कवित्व ही प्रधान है भक्ति गौण । हम यहाँ सूरदास, तुलसीदास जस कवियो की बात नही कर रहे हैं केशव मतिराम और देव जस रस ग्र थकारो की बात कर रहे है ।

यहा यह बात ध्यान देन योग्य है कि जिन दिनो उज्ज्वल नीलमणि की रचना हुई उसके कुछ पहल ही हिन्दी मे इस प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध थे । उज्ज्वल नीलमणि ने भक्ति रस की जो सर्वांगपूण व्याख्या की है वह सर्वांश म नही तो अधिकाश म नवीन है । ऐसा एकाएक नही हो सकता । इसक पूव इसकी पर्याप्त चर्चा रही होगी । इसी तरह हिन्दी के जिस ग्रन्थ की हम चर्चा करने जा रहे है वह पहला प्रयत्न नही जान पडता । साधारण धारणा यह है कि केशवदास ही हिन्दी के प्रथम रसाचाय है । परन्तु बात असल म यह नहीं है । कृपाराम नामक एक ग्रन्थ कवि ने सन १५४१ ई० म ही रस पर सुन्दर ग्रन्थ लिखा था ।[1] इस ग्रन्थ का नाम हिततरगिणी है । इसमे रसो का विषय बहुत ही विस्तारपूवक और मनोहर छदो द्वारा कहा गया है । इस कवि की भाषा सुष्ठु ब्रजभाषा है । इन्होने लिखा है कि अन्य कवि बडे छदो म

---

१ बरनत कवि सिगार रस छद बडे विस्तारि,
मै बरन्यो दोहानि बिच याते सुघर बिचारि ।

शृंगार रस का वर्णन करते हैं परन्तु मैंने दो[1] में इसलिए लिखा कि उसमें थोड़े ही ग्रन्थों में बहुत ग्रन्थ आ जाता है।' इस वचन से प्रकट होता है कि उस समय बहुत से कवि थे परन्तु दुर्भाग्यवश उनके ग्रन्थ अब नहीं मिलते।'[2] इसी ग्रन्थ में पहले पहले राधाकृष्ण की प्रेमलीला को उदाहरण रूप में लिखित पाया जाता है—

> आजु सकारे हौं गई नन्दलाल हित ताल।
> कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे और हाल॥

यहाँ यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि हिंदी में राधा माधव की प्रेम गाथाओं का प्रचार भक्त कवियों के कण्ठ से इसके बहुत पहले हो चुका था। इस श्रेणी के भक्ति के आवेश में ही कविता, (गान कहना अधिक ठीक होगा) लिखा करते थे परन्तु कृपाराम की श्रेणी के आचार्य कविता करने बैठते थे और उस पर भक्ति का पर्दा डाल देते थे। यह बात ध्यान देने की है कि इस श्रेणी के आचार्यों का वर्गीकरण गौडीय वैष्णवों की श्रेणी का नहीं है। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रभाव गौडीय वैष्णवों का है। फिर यह बात आई कहाँ से। एक और बात ध्यान देने की है वह यह कि पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले यह धारा हिन्दी साहित्य में एकदम अपरिचित है। रसाचार्यों की बात छोड़ भी दी जाए तो भी भक्त कवियों के गान भी पन्द्रहवीं शताब्दी के पहले दृष्टिगोचर नहीं होते।

एक ओर तो इन कवियों और रसाचार्यों पर गौडीय प्रभाव का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता दूसरी ओर इस प्रकार के प्रेम-गानों के सभी पुरान रचयिता—जयदेव विद्यापति उमापति, चण्डीदास हिन्दी के किसी भी वैष्णव कवि से पूर्ववर्ती और पूर्वी प्रदेश के ठहरते हैं। राधाकृष्ण की शृंगार लीला का अगर कोई सीधा सम्बन्ध कहीं से मिलता है तो इन्हीं पूर्ववर्ती भक्तों में। महाप्रभु चैतन्यदेव जो जयदेव विद्यापति और चण्डीदास इन तीनों कवियों के काव्य रसिक थे वृन्दावन आये थे और उन्होंने ही इसे नया रूप दिया था।

---

१ मिश्रबन्धु विनोद पृ० २७६ (तृतीय संस्करण लखनऊ १९८६ वि०)

२ कृपाराम के अतिरिक्त गोप [१६१५] करनेस और मोहनलाल मिश्र ने रीति ग्रन्थ लिखे थे। ये तीनों ही केशवदास के पूर्ववर्ती थे। (दे० रामचन्द्र शुक्लजी की हिंदी शब्दसागर की भूमिका पृ० १२१ २२) परन्तु हम नहीं जानते कि इन्होंने अपने ग्रन्थों में राधा माधव की लीलाओं को उद्धृत किया है या नहीं।

उनके भक्त वहीं शिष्य आजीवन के लिए रह गए थे और उस सम्प्रदाय के कितने ही भक्त परवर्ती हिन्दी-साहित्य के प्रसिद्ध कवि भी हुए। इस प्रकार दूर्वी प्रदेशों से इस धारा का सीधा सम्बन्ध भी दिखाई देता है। इन दो परस्पर विरोधी बातों का समाधान क्या है?

यूरोपियन पण्डितों का रास्ता सीधा है। वैष्णव भक्त भी भगवान् को पतितपावन कहते हैं, करुणा सिन्धु कहते हैं, और ईसाई भक्त भी ऐसा ही कहते हैं, इसलिए भक्ति ईसायत की देन है। कुछ कहते हैं यह मद्रास में बसे हुए नस्टोरियन ईसाइयों की देन है[1], कुछ कहते हैं यह अलेक्ज़ेंड्रिया या इसी कुल दूर से आई है और कुछ कहते हैं यह गूजरों[2] की मध्यस्थता से आई है। इन लोगों की दृष्टि में संसार में जो कुछ अच्छा है वह योरप और ईसाई धर्म में ही है, इसलिए हिन्दुओं ने भक्ति को भी निश्चय ही वहीं से उधार लिया होगा! खुल जाओ सुमसुम और लो वह दरवाजा खुल गया!!

इस स्थान पर यह कह देना उचित होगा कि हिन्दी-साहित्य में भक्ति धारा को बहाने का श्रेय निश्चय ही दो प्रसिद्ध आचार्यों को प्राप्त है। राम भक्ति की धारा के प्रवर्तक आचार्य रामानन्द हैं। इस धारा को दो भागों में विभक्त पाया जाता है। प्रथम में वे सन्त हैं जो शास्त्र और रूढ़ियों के कायल नहीं हैं। इन्हें निर्गुणवादी भक्त भी कह सकते हैं। कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि भक्त इसी श्रेणी के हैं। दूसरी श्रेणी में तुलसीदास जैसे महात्मा हैं जो भक्तिवाद और शास्त्रों के सामञ्जस्य के अनुसार साधन मार्ग का निर्देश करते हैं। कृष्ण भक्ति की धारा के प्रधान प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य हैं। परन्तु केवल इतना कह देने से हम सन्तुष्ट नहीं हो सकते। कोई भी मत वाद जब किसी नवीन भूमि में प्रवेश करता है तो वहाँ की रीति नीति आचार विचार से मिलकर एक नया रूप धारण करता है। महाराष्ट्र की भक्ति दूसरी चीज है, युक्त प्रान्त की दूसरी और बंगाल की कुछ और। इनके मूल सिद्धान्त एक ही हो सकते हैं परन्तु इनके आकार प्रकार सर्वथा अलग हैं। रामानन्द प्रवर्तित रामधारा कबीर में एक रूप धारण करती है और तुलसीदास में दूसरा। जब व्यक्ति विशेष के कारण साधना का रूप बदल सकता है तो देश विशेष के साथ क्यों नहीं बदलेगा? जो लोग कुछ दाक्षिणात्य आचार्यों के

---

1 Modern Hinduism and its debt to the Nestorians (J R A S 1907)

2 Krishna Christianity and Gujar (J R A S 1908)

ार्शनिक और धार्मिक मना का अध्ययन करके ही तुलसीदास और सूरदास के रहस्या का उदघाटन करत हैं वे लोकमत के साथ अविचार करत हैं । जिस भक्ति-साधना न देव मतिराम और पद्माकर को पैदा किया वह किसी आचाय की ही साधना नहा थी । आचाय विनोप की दीक्षा तो उस पर केवल रग चढा गई मूल कंकाल कुछ और ही था ।

हमारा विश्वास है कि ग्यारहवी स पद्रहवी शताब्दी तक उत्तर भारत के जन साधारण म एक साधना विकसित होती जा रही थी । पद्रहवी शताब्दी म वह एकाएक फूट उठी । ग्रियसन साहब का यह कहना बिलकुल ठीक है कि अचानक बिजली क समान यह बात भारतीय अन्तरीप क इस छोर स उस छोर तक चमक गई । परन्तु इसके लिए चार सौ वष स मेघ पुजीभूत हो रह थ । और केवल बिजली ही नही चमकी पद्रहवी शताब्दी म भक्ति की जो वर्षा आरम्भ हुई वह चार सौ वष तक बरसती ही रही—जरा भी रुकी नही ।

इन चार शताब्दियो म जन-साधारण क्या सोच रहा था यह जानने क पहले भक्ति आन्दोलन की कुछ मुख्य बाता का ध्यान म रखना होगा । य बातें इस प्रकार हैं—

(१) प्रम ही परम पुरुषाथ है, मोक्ष नही—प्रेमा पुमर्थो महान ।
(२) भगवान क प्रति प्रम कौलीन्य से बडी चीज है ।
(३) भक्त भगवान से भी बडा है ।
(४) भक्ति के बिना शास्त्रज्ञान और पाण्डित्य व्यथ है ।
(५) नाम रूप से भी बढकर है ।

सक्षेप म कहा जा सकता है कि यह मत ब्राह्मणधम का विरोधी तो नही था परन्तु उसका सम्पूण अनुगामी भी नही था । महायान मत से इसका अन्तर यही था कि वह ब्राह्मणधम का पूण विरोधी था और यह उसका अग होकर भी स्वाधीन था ।

इन चार शताब्दिया म भारतीय धम मत की क्या अवस्था थी यह बात हिन्दू धम के सस्कृत ग्रन्था स बहुत कम समझ पडती है । असल म सस्कृत ग्रन्था की दृष्टि से यह युग टीका युग कहा जा सकता है । कोई अच्छा ग्रन्थ अगर इस जमान म लिखा गया तो वह टीकाएँ ही थी । धमशास्त्रा म व्यवस्था मूलक अनेक ग्रन्थ लिखे गए जो निश्चय ही टीका श्रेणी म आत हैं । इन टीकाओं और निबन्धा स उस युग की भयानक सतकता का अनुमान सहज ही

किया जा सकता है। जान पडता है शास्त्रीय ग्रादेशा के पालन म ज्या ज्या शिथिलता ग्राती जा रही थी त्या त्या ब्राह्मण ग्राचाय ग्रधिक सतक भाव ग्रहण करते जा रहे थ। इन ग्रनुपस्थितिमूलक (Negative) प्रमाणा क बल पर यही ग्रनुमान हाता है कि शास्त्रा की व्यवस्थाग्रा स लोकमत बेपरवाह हाता जा रहा था। उस युग के ग्राम गीत ग्रौर प्रवाद यदि उपलब्ध होते तो हम यह ग्रासानी से जान सकत कि जनसाधारण का मत उस समय क्या था। परन्तु ग्रभी तक, दुर्भाग्यवश इस दिशा म कुछ सन्तोषजनक काय नही हुग्रा है।

जो हो, हिन्दी साहित्य के शशवावस्था म ही हम एक महात्मा क दशन होते है जो एक विशष धम मत के ग्रन्यतम प्रतिष्ठाता है। य हैं गोरखनाथ। ग्राप नाथ सम्प्रदाय के ग्राचाय थे। यह सम्प्रदाय महायान बौद्ध धम का उत्तराधिकारी था। तन्त्र ग्रौर योग की क्रियाए इस मत के प्रधान ग्रग है। कबीरदास पर गोरखनाथ की निगु ण साधना का प्रभाव स्पष्ट ही लक्षित होता है। हिन्दी साहित्य क निगु ण ग्रग पर इस सम्प्रदाय का पर्याप्त प्रभाव है। परन्तु हम ग्राज उस दिशा की ग्रोर ग्रग्रसर हाना नही चाहते। गोरखनाथ का उल्लेख हमने इसलिए किया कि उनका हिन्दी क ग्रादि काल म दिखाई दना एक विशष ग्रथ रखता है। नाथ सम्प्रदाय का सीधा सम्बन्ध महायान बौद्ध धम स है। यह सम्प्रदाय बगाल स लेकर युक्त प्रान्त तक बहुत प्रभावशाली हो गया था। हिन्दी साहित्य म गोरखनाथ एक ग्रोर उस युग की हिन्दी भाषी जनता का सम्बन्ध महायान बौद्धा स जोडते हैं ग्रौर दूसरी ग्रोर बगाल म भी सीधा सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यहाँ हम उस युग क समाज का सीधा सम्बन्ध दश ग्रौर काल स स्थापित हाते देखते हैं। सच पूछिए ता उत्तरकालीन वष्णव धम मत पर महायान बौद्ध धम का प्रभाव बहुत ग्रधिक है। जिस प्रकार पुत्र का सम्बन्ध पिता की ग्रपेक्षा माता म ग्रधिक रहता है ग्रौर जिस प्रकार माता क रक्त माम का ग्रधिक भागधेय होकर भी पुत्र पिता क नाम स ही प्रसिद्ध होता है वसे ही हिन्दी वष्णव धम का सम्बन्ध महायान स ग्रधिक हाते हुए भी वह वदमाचाय क नाम स पुकारा गया।

महायान बौद्ध धम की नाना ग्राचार्यों की दृष्टि म कितना भी शून्यवाद क्या न रहा हो, उस धम क ग्रनुयायी ग्रधिकाश जन साधारण म सकडा दव देवियो की पूजा चल पडी थी। उनके दव देवियां—प्रज्ञापारमिता, ग्रवलोकितस्वर, मजुश्री—की मूर्तियाँ बहुत कुछ वासुदव ग्रौर लक्ष्मी की मूर्तिया क

समान है[1]। प्रसिद्ध डाक्टर कर्न ने बताया है कि वैष्णव भक्ति-वाद इन महायानों की भक्ति का ही विकसित रूप है।[2] यहाँ तक कि नाम संकीर्तन भी जिसे ग्रियर्सन साहब[3] ईसाई धर्म का प्रभाव बताते हैं महायान धर्मवालों की चीज है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने चीन और भारत के संकीर्तनों का साम्य देखकर यह निष्कर्ष निकाला है कि महायान-मत ही संकीर्तनप्रथा का मूल उत्स है। बंगाल के इतिहास से यह बात अलग नहीं की जा सकती कि बौद्ध धर्म का ह्रास होते ही महायान मत के नाना पंथ वैष्णवों में शामिल हुए। इस प्रकार आउल-बाउल आदि अनेक सहजिया पंथ जिनकी साधना प्रेम मूलक थी और जो परकीया प्रेम को सहज साधना का प्रधान उपाय समझते थे सोलहवीं शताब्दी में नित्यानन्द के वैष्णव झंडे के नीचे एकत्र हुए। इन्हीं नित्यानन्द को महाप्रभु चैतन्य ने अपने सम्प्रदाय में निमंत्रित किया और यहीं से गौडीय वैष्णव धर्म ने अभिनव रूप धारण किया[4]। यह धर्म मन समस्त बंगाल उडीसा में तथा अंशतः आसाम में पहुंचा। उडीसा के धर्माचार्यों में चैतन्य और नागार्जुन दोनों के मतों के समन्वय से एक विशाल वैष्णव-बौद्ध साहित्य निर्मित हुआ।

नित्यानंद के साथ जो शक्ति चैतन्य सम्प्रदाय में प्रविष्ट हुई वह नयी नहीं थी। उसके पीछे भी तीन चार सौ वर्ष का इतिहास था। सौभाग्यवश बंगाल और उडीसा में इस प्रकार की कुछ पुस्तकें और लोक गीत उपलब्ध हुए हैं जिनमें उस अंधतिमिरावृत युग की धार्मिक साधना पर प्रकाश पडता है। श्री दिनेशचन्द्र सेन महाशय की धारणा है कि बारहवीं से चौदहवीं शताब्दी तक बंगाल और उडीसा में एक अत्यन्त शोचनीय नैतिक दुर्गति का आविर्भाव हुआ था। उस युग के ताम्रशासनों पर हर-पार्वती की वंदना में उनका हाव भाव तथा परस्पर आलिंगन आदि का रुचिगर्हित वर्णन पाया जाता है पुरी और कोणार्क के मन्दिरों पर अश्लील चित्र अंकित हैं। बंगीय साहित्य परिषद् में उस युग की बनी हर पार्वती की एक बीभत्स प्रस्तर मूर्ति रखी है। इन प्रमाणों के बल पर

---

1 D C Sen Bengali Language and Literature P 401 ff
2 Kern Manual of Buddhism P 124
3 Grierson Modern Hinduism and Nestorians (J R A S, 1907)
4 D C Sen Bengali Language and Literature P 403

यह समझना कठिन नहीं है कि उस युग की रुचि किस ओर थी।[1] बंगाल के जयदेव ने सर्वप्रथम गीतों के माध्यम से उस भक्ति-भावित विलास प्रथा का आधार मानकर प्रेम-गान लिखे। ये गान विशुद्ध प्रेम के आधार पर ही लिखे गये थे परन्तु कवि अपने युग की सामाजिक रुचि से बंधा था। परम्परा से तो जयदेव परकीया भाव के साधक ही समझे जाते हैं परन्तु उनके गीतगोविन्द में इसका कोई प्रमाण नहीं है। हम आगे चलकर देखेंगे कि ब्रजभाषा के कविता पर जयदेव का खूब प्रभाव था।

एक दूसरा नया प्रबल प्रमाण आविष्कृत हुआ है जिससे वैष्णव कवियों की प्रेम साधना का रहस्य प्रकट होता है। रंगपुर दिनाजपुर आदि उत्तर बंग के जिलों में, जो हिमालय की तलहटी में बसे हुए हैं कुछ आश्चर्यजनक धमाली के प्रचलित गीत पाये गये हैं। ये गान दो तरह के होते हैं—असल धमाली और खुचरा धमाली। असल धमाली गान इतने अश्लील होते हैं कि वे गांवों के बाहर ही गाये जाते हैं। इन्हें कृष्ण धमाली भी कह सकते हैं। यह कृष्ण धमाली ही किसी समय बंग देश के जनसाधारण को राधा-कृष्ण की प्रेम-कथा सुनने की तृषा मिटा देते थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राचीन राजवंशी जाति और पाली आज तक बंगाल के नाना स्थानों में इनकी यत्नपूर्वक रक्षा करते आये हैं।[2] खुचरा धमाली का संशोधन करने के लिए सुप्रसिद्ध वैष्णव कवि चण्डीदास ने 'कृष्ण-कीर्तन' नामक ग्रंथ लिखा था। यह संशोधित संस्करण भी कम अश्लील नहीं है इसी से दीनेशबाबू अनुमान करना चाहते हैं कि यह कृष्ण धमाली कितनी गर्हित रही होगी। इस पुस्तक के अनुसंधान से हम यह अनुमान करना सहज हो जाता है कि किस परिस्थिति में वैष्णव प्रेम को शृंगारिक रूप धारण करना पड़ा था।

गोरखनाथ के प्रसंग में हम उस युग के पूर्वीय अंचल में उत्तर भारत के योग का उल्लेख कर चुके हैं। यह बात और भी मनोरंजक है कि इन पूर्वीय वैष्णवों के प्रेम गानों का प्रभाव ब्रजभाषा के शैशव-काल में ही पड़ा। केवल नाभादास या गुरु नानक ने जयदेव का नाम लिया हो सो बात नहीं सूरदास के भजनों में जयदेव के पदों का अनुवाद भी है[3]। पण्डित रामचन्द्र

---

१ दीनेशचन्द्र सेन बंगभाषा और साहित्य, पृ० १६५ १६६

२ वही पृ० १६६

३ जयदेव और सूरदास के इन पदों की तुलना कीजिये

मेघैर्मेदुरमम्बर वनभुव श्यामास्तमालद्रुम

शुक्ल ने ठीक ही कहा है कि 'सूर सागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है।'[1] अर्थात सूरदास के बहुत पहले ही (और इसीलिए वल्लभाचार्य के भी बहुत पहले) वैष्णव प्रेम धारा ने इस प्रदेश में अपनी जड़ जमा ली थी। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि बारहवीं से लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक जिस प्रकार का बौद्ध तन्त्रवाद बंगाल और उड़ीसा के पूर्वी प्रान्तों में प्रबल रहा वैसा इस प्रदेश में नहीं था। *मध्ययुग में बंगाल का प्रान्त तंत्र का अखाड़ा* समझा जाता था। परन्तु वैष्णव प्रेम वाद में कुछ ऐसा रस था जो अवैष्णवों को भी आकृष्ट करता रहा। इसके सबसे उज्ज्वल उदाहरण हैं विद्यापति। आप स्वयं शैव थे परन्तु प्रेम साधना की ओर इतने आकृष्ट हुए कि शायद ही कोई वैष्णव कवि बंगाल में इतने दिनों तक इतना समादृत रहा हो।

बंगाल के बाहर का प्रान्त इस प्रेम से प्रभावित तो हुआ था पर वह प्रभाव

नक्तं भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नन्द निदेशतश्चलितयो प्रत्यध्व कुञ्जद्रुमं
राधा माधवयोर्जयन्ति यमुना कूले रहः केलयः।

—जयदेव

गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी।
पौन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर
सुवन तन चित नन्द डरत भारी।।
कह्यो वृषभानु की कुँवरि सो बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जारी।।
दोऊ घर जाहु संग नभ भयो
स्याम रंग कुँवर गह्यो वृषभानु बारी।
गये वन ओर नवल नंदकिशोर
नवल राधा नये कुंज भारी।।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन
जये सूर प्रभु स्याम स्यामा बिहारी।।

संक्षिप्त सूरसागर पृ० ९१

१ हिंदी शब्दसागर, आठवाँ भाग पृष्ठ १०४

केवल आर्द्रियां का प्रभाव था।[1] वास्तव में बंगाल की भूमि में परकीया भाव को ऊंचा रूप देने का उपकरण पहले से ही वर्तमान था। ब्रजभाषा प्रान्तों में यह बात नहीं थी। अर्थात राधा और कृष्ण सम्बन्धी प्रेम के गान तो इस प्रदेश में चल पड़े परन्तु राधा कृष्ण की रानी ही समझी गयी। सूरदास ने राधा और कृष्ण का विवाह बड़ी धूमधाम से कराया है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इस आन्दोलन को और जोर दे दिया।

अब हम अलंकार सम्प्रदाय की बातों पर विचार करेंगे। बंगाल में चैतन्य युग के बाद ही वैष्णव आलंकारिकों का विकास हुआ है। हम अन्यत्र लिख चुके हैं कि इन आलंकारिकों का कोई भी प्रभाव हिन्दी आलंकारिकों पर नहीं पड़ा। सच पूछा जाय तो रस ग्रन्थों की रचना हिन्दी में पहले ही होने लगी थी। ब्रजभाषा में गोपियों और कृष्ण की नाना लीलाओं का वर्णन पहले से ही होता आ रहा था। हिंदी रसाचार्यों ने उदाहरण के लिए इन लीलाओं को ठीक उसी तरह उद्धृत किया जिस प्रकार मम्मट आदि ने कालिदास के शिव पार्वती परिणय सम्बन्धी श्लोकों को उद्धृत किया था। एक नवीनता यह आ गई कि मम्मट आदि अन्य कवियों की रचना उद्धृत करते थे। ये अपनी ही रचना उद्धृत करने लगे। विश्वनाथ कुछ दूर तक इस प्रथा के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। बाद में वर्गीकरण करके कविता करना एक सरल उपाय समझा गया और हिन्दी में रस ग्रन्थों की बाढ़ आ गई। हमारा ख्याल है कि पंडितराज जगन्नाथ इस बात में ब्रजभाषावालों से प्रभावित हुए थे।

---

1 यह सन्देह करने की बात नहीं है कि मध्ययुग में यह बात फैल कर कैसे इतनी दूर तक आ सकी थी। जायसी के पदमावत की रचना के सौ वर्ष के भीतर ही उसका बंगला अनुवाद हो गया था। यह अनुवाद आराकान के एक मुसलमान बादशाह ने करवाया था। दादू के जीवन काल में ही उनका प्रभाव बंगाल में फैल गया था। श्री क्षितिमोहन सेन ने बंगाल के बाउलों के गान सुन कर ही पहले पहल समझा कि दादू जन्म के मुसलमान थे। और उनका नाम दाउद था। चैतन्य देव के अनन्तर ही गौडीय वैष्णव धर्म राजस्थान तक फैल गया। मीराबाई के जीवन-काल में ही उनके गान पूर्वीय प्रान्तों में गाये जाने लगे थे। बंगाल के गोपीचन्द का गान सौ वर्ष के भीतर ही सुदूर पंजाब तक गाया जाने लगा था और अब भी गाया जाता है। इन बातों के लिए श्री क्षितिमोहन सेन का 'मध्ययुग में राजस्थान और बंगाल का आध्यात्मिक सम्बन्ध' (गौ० ही० ओझा अभिनन्दन ग्रन्थ) देखिए।

हिन्दी साहित्य पर वष्णव प्रभाव की चचा करत समय दो अत्यन्त मनोरजक विषया का छोडा नही जाता। एक तो पद सवया और कवित्त (इनम कवित्त सबसे अधिक जरूरी है) और दूसरे इन छन्दा के इतिहास के साथ भागवत तथा रामचरितमानस और भागवत तथा सूरसागर की तुलना आवश्यक है। पर य दोना बातें सक्षेप म नही लिखी जा सकती। इसलिए यहा हम इनके सम्बन्ध म कुछ नही कहना चाहत। इतना ही कह देना आवश्यक जान पडता है कि हिन्दी साहित्य म वष्णव धम का समस्त इतिहास इन्ही कई छन्दा के इतिहास म आ जाता है।

ऊपर हमने जो कुछ कहा है उसका साराश यह है कि वष्णव धम शास्त्रीय धम की अपेक्षा लोकधम अधिक है। हिंदी साहित्य क लोक गीता म इसका प्रवेश वल्लभाचाय के बहुत पहले हो गया था। इन्ही गीतो का विकसित और सुसस्कृत रूप सूरसागर के अन्तगत विद्यमान है। अन्य सभी अशास्त्रीय या लोक धर्मो—बौद्ध जन यहा तक कि उपनिषदों क धम की भाति इसकी जन्मभूमि भी बिहार बगाल और उडीसा के प्रात हैं। वल्लभाचाय या चतन्य देव प्रभृति ने इस लोक धम को शास्त्र सम्मत रूप दिया। ज्योही उसन एक बार शास्त्र का सहारा पाया त्योही विद्युत की भाति इस छोर स उस छोर तक फल गया क्या कि असल म उसके लिए क्षेत्र बहुत पहल से ही तयार था। जब शास्त्र-सम्मत होकर इसन अपना पूरा प्रभाव विस्तार किया तो आलकारिका और रसाचार्यो ने भी उसका अपने शास्त्र का आलबन बनाया। असल म यह कही बाहर स आयी हुई चीज नही है। भारतीय साधना की जीवनी शक्ति के रूप म यह धारा नाना युग म नाना रूप मे प्रकट हुई थी। मध्ययुग के वैष्णव धम न इस जो रूप दिया वह महायान भक्ति का विकसित और मार्जित रूप था। इस भक्ति-साहित्य न ससार क साहित्य म एक नई वस्तु दान की और वह यह कि आध्यात्मिक, धार्मिक और कला सम्बन्धी सभी साधनाओ का लक्ष्य विचित्र रूप म एक है, जो ज्ञान का विषय है वही भक्ति का और वही रस का।

मध्य युगीन भारतीय सस्कृति और हिन्दी

पिछले एक हजार वर्षों की भारतीय धम-साधना का इतिहास अब भी अनवधान और अनालोचित ही कहा जाएगा। हमारे ऐतिहासिक पण्डितों ने उस युग के राजनीतिक और आर्थिक ढांचे का थोडा-बहुत अध्ययन अवश्य उपस्थित किया है पर विशाल बौद्ध और जन मतों की क्रम परिणति स्मार्त और पौराणिक मतों का सवग्रासी रूप शाक्त पाशुपत और भागवत धम साधनाओं की परिणति का अध्ययन अब भी नही हुआ है। अभी भी निरजन दवत विशाल नाथ सम्प्रदाय केवल कुतूहल का विषय बना हुआ है जबसे महामहोपाध्याय पण्डित हरप्रसाद शास्त्री महाशय ने बगाल म निरजन ठाकुर की पूजा को जीवित बौद्ध धम का भग्नावशेष घोषित किया तब स बगाल मे तो इस विषय की थोडी बहुत चर्चा हुई है पर अन्यत्र यह चर्चा भी नही सुनायी देती। कबीर प थ का अध्ययन करते समय प्रस्तुत लेखक को इस निरञ्जन दवत सम्प्रदाय का पता लगा था। पश्चिमी बगाल से लेकर रीवाँ तक के विस्तृत भूखण्ड म यह धम प्रचलित था—बाद म चलकर कबीर प थ म अन्तभुक्त हो गया था। पर केवल इतना ही नही—राजपूताने म उसने एक रूप धारण किया है उत्तरी प्रदेशो म दूसरा और पूर्वी प्रदेशो म एकदम भिन्न तीसरा। इस समूचे धम मत के अध्ययन का एकमात्र उत्स पुराना हिन्दी साहित्य है। हम लोगो ने इस उत्स का वास्तविक मूल्य नही समझा है। अभी भी हम हिन्दी साहित्य के केवल साहित्यिक पहलू का अध्ययन करके चुप हो जाते है। अब भी सन्तो और भक्तो की उक्ति के अनुसार उनके उत्कष की श्रणी का विचार करने म हम समय नष्ट कर रहे हैं। साहित्यिक अध्ययन बहुत बडी चीज है। पर हिन्दी म उपलब्ध साहित्य का मूल्य केवल साहित्यिक नही है। वह हमारे हजार वष के सास्कृतिक

सामाजिक और धार्मिक साधना के अध्ययन का सबसे बहुमूल्य और सबसे विशाल साधन है। समूचे मध्य युग के अध्ययन के लिए संस्कृत की पोथियों की अपेक्षा इस भाषा का साहित्य कहीं अधिक उपादेय और विश्वसनीय है। यह लोक जीवन का सच्चा और सर्वोत्तम निर्देशक है। इस छोटे से लेख में हम एकाध उदाहरण देकर यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि संस्कृति के विद्यार्थी के लिए इस भाषा की कितनी आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति के साथ हिन्दी भाषा के सम्बन्ध पर विचार करते समय यह याद रखना चाहिए कि भारतवर्ष हिन्दी भाषी क्षेत्र से बहुत बड़ा है। समूची भारतीय संस्कृति के निर्माण में ऐसे बहुत से उपादान हैं जो हिन्दी भाषी प्रदेश के बाहर से आए हैं। फिर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि हिन्दी भारतवर्ष की सर्वप्रधान भाषा है, वह उसके मर्मस्थल में बोली जाती है और इस विशाल देश की एक बहुत बड़ी संख्या इसी भाषा के किसी न किसी रूप का व्यवहार करती है। इसीलिए भारतीय संस्कृति के पिछले हजार वर्षों के रूप को समझने के लिए हिन्दी एकमात्र नहीं तो सर्वप्रधान साधन जरूर है। हिन्दी भाषा की उत्पत्ति के साथ ही साथ भारतीय संस्कृति एक विशेष दिशा में मुड़ चुकी थी। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले के अपभ्रंश भाषा के जो पद और दोहे मिले हैं वे इस झुकाव को बहुत स्पष्टता के साथ प्रमाणित करते हैं। भारतीय संस्कृति की जो छाप प्रारम्भ की हिन्दी भाषा पर पड़ी है वह इतनी स्पष्ट है कि केवल भाषा के अध्ययन से भी हम संस्कृति के विभिन्न रूपों का अनुमान लगा सकते हैं। ऐसा बहुत बार हुआ है कि एक ही शब्द कई अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, एक ही मुहावरा विशेष अवस्था की सूचना देता है और कभी-कभी तो धार्मिक आध्यात्मिक और सामाजिक आदर्शों के परिवर्तन के साथ शब्द बिलकुल विपरीत अर्थ में व्यवहृत होता रहा है।

अपनी बात समझाने के लिए मैं एक मनोरंजक शब्द के भिन्न भिन्न काल के प्रयोगों का उदाहरण दूं। यह शब्द है खसम। कबीरदास के पदों से मामूली परिचय रखने वाला आदमी भी खसम को अच्छी तरह पहचानता है। साधारणतः खसम शब्द अरबी का माना जाता है और इसका अर्थ किया जाता है पति। उदाहरणार्थ—खसम के साथ मोर मूली हुई द्रव्य-वधुआ की जो करारी खबर कबीरदास ने ली है—वह उपभोग्य ही नहीं है—झकझोर देने वाली भी है। अब पति के साथ पत्नियों का ध्यान करें तो किसी भी दृष्टि से खसम नाराज होने की बात नहीं है। फिर कबीर जैसा मस्तमौला फक्कड़ क्या इस बात में चिढ़ गया—यह एक विचारने लायक बात है। मैं उसी बात का सम

भाने की कोशिश करता हूँ।

'ख—सम शब्द प्रधान म संस्कृत और अपभ्रंश के साहित्य म व्यवहृत हुआ है। इसका अर्थ है आकाश के समान या शून्य के समान। बौद्ध लोग आत्मा को नित्य पदार्थ नहीं मानते थे। वे नाना प्रकार की तपस्या ही इस लिए करते थे कि आत्मा को निर्वाण प्राप्त हो अर्थात वह दीपक की लौ की तरह बुझ जाय और इस प्रकार इस भवजाल से छुटकारा मिले। बौद्धों के सहज यान और वज्रयान एक प्रकार के यौगिक और तांत्रिक सम्प्रदाय थे। व नाना प्रकार की यौगिक क्रियाओं स समाधिस्थ होने को ख—सम भाव कहते थ। वहाँ न भाव का ज्ञान होता है और न अभाव का बल्कि शून्य के सामान्य नरात्म्य भाव का ज्ञान होता है। यही बौद्धो का खसम है। सरोजवज्र और ज्वरपाद नामक महयानी सिद्धो के कथन म कई बार यह शब्द आया है। अद्वयवज्र न अपनी टीका म इस शब्द की व्याख्या भी की है। परन्तु नाथपंथी योगी लोग आत्मा की नित्य सत्ता म विश्वास रखते थ। इन्होंने सहजयानियों के बहुत स शब्द ज्यों के त्यों ल लिए है—परन्तु अर्थ सवत्र बदल दिया है। खसम या गगनोपम भाव इनमे भी प्रचलित है—परन्तु वहा नरात्म्य भाव उसका अर्थ नही कैवल्य भाव अर्थ है। अर्थात उनके मत से समाधि म आत्मा नहीं है ऐसा ज्ञान नही होता बल्कि केवल आत्मा ही आत्मा है यही ज्ञान होता है।

> न शून्य रूप विशून्य रूपम
> न शुद्ध रूप, न विशुद्ध रूपम।
> रूप विरूप न भवामि किंचित
> स्वरूप रूप परमार्थ तत्वम।

कहने का मतलब यह कि एक ही शब्द को दोनो ने व्यवहार किया है पर एकदम अलग अलग अर्थ मे। एक का खसम भाव समाधि की वह अवस्था है जहाँ आत्मा है ही नही ऐसा भान होता है और दूसरे का खसम या गगनोपम भाव वह अवस्था है जहाँ केवल आत्मा ही आत्मा दीखता है। अवधूत गीता म इस भाव का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। कबीरदास इन नाथपंथी योगियों स प्रभावित थ। उन्होंने स्वय उस समाधि का अनुभव किया था जिसे योगी लोग अत्यन्त ऊँची अवस्था मानत थ जहाँ—

> गगन का गुफा त तह शब का चादना
> उदय और अस्त का नाम नाही
> दिवस औ रैन तहँ नेक नहि पाइये

प्रेम परकास के लिए भाही।
सदा आनन्द दुखदन्द व्याप नहीं
पूरनानन्द भरपूर देखा,
भम और भ्रान्ति तहँ नेक नहिं पाइये
कहे कबीर रस एक परखा।

परन्तु व कायों की नाना भाँति की साधना स मिले हुए भगवान के साक्षात्कार का महत्व दन थे। वे इसे कच्चा योग' कहते थ। क्योंकि समाधि म तो निश्चित ही परमानन्द अखण्ड ज्योति का दर्शन होता है पर समाधि टूटन पर तो फिर मनुष्य द्वन्द्वन्द्व की दुनिया म आ ही जाता है न ! फिर इस योग से क्या लाभ ? धागा टूटिगा गगन विनसिगा कहाँ गया जोग तुम्हारा ?'' कबीरदास का कहना था कि भक्ति होनी चाहिए, भगवान स्वय मिलेंगे। भगवान नहीं तो समाधि एक विडम्बना मात्र है। इसीलिए उन्होंने खसम भाव' को बहुत ऊँचा भाव नहीं समझा। उन दिनों इस्लाम का आगमन हो चुका था और भारतीय मन म नया उपादान बडी तजी से प्रवेश कर रहा था। खसम शब्द पतिवाचक होकर उसी माध्यम से कबीर को मिला था। कबीरदास ने दोनों स्रोतों से आय हुए शब्दों को मिला दिया। खसम का अर्थ निकृष्ट पति और परम प्रेममय उत्कृष्ट भगवान पति हुए। यहाँ आकर खसम एक तीसरे भाव का वाचक हो गया। अब यह बात आसानी स समझ मे आ जाएगी कि कबीर का मन जब माधव को छोड़कर खसम स प्रम करता है तब क्यों वे उस प्रेम की रस्सी स बाधकर हरिरस की ओर खींचना चाहते हैं

धीरौ मेरे मनुआ ताहि धरि टाँगौं
तूने किया मोरे खसम से साँगौं
प्रेम की जेवरिया तेरे गले बाधौं
जहाँ ले जाऊँ जहाँ मेरे माधौं। इत्यादि

इस प्रकार यह एक खसम शब्द तीन प्रकार क आध्यात्मिक साधना का परिचायक है। परन्तु इस प्रकार क मनोरंजक शब्दों म यह अकेला नहीं है। इस शब्दों का विशाल ठाठ है—शून्य है, सहज है, निरंजन है, धरनी है नाद है बिन्दु है यहाँ तक कि राम रहीम और केशव-करीम भी हैं। मुझे अफसोस है कि मैं समयाभाव क कारण इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर अपने श्रोताओं को नहीं ले जा सकता।

कबीरदास मे अपन पूर्ववर्ती योगियों और सहयोगियों की अपेक्षा जो बात विशेष थी वह है भक्ति। यह भक्ति ही मध्ययुग की भारतीय संस्कृति की

विशेषता है। भक्ति ने ही नाथपंथियो निरंजनपंथियो आदि के निर्गुण मत से मिलकर उस महान साहित्य को पैदा किया था जिसे निर्गुण संत साहित्य कहते हैं भक्ति ने ही सूफी साधना को वह भारतीय रूप दिया जिसे प्रेममार्गी साधना कहते हैं और मलिक मुहम्मद जायसी जैसे भक्त जिस साधना के अग्रणी हैं भक्ति ने ही रामावतार और कृष्णावतार का आश्रय करके उस बेजोड प्रेम साहित्य का निर्माण किया जिसकी तुलना वह स्वयं आप ही है। तुलसीदास सूरदास नन्ददास हित हरिवंश आदि महात्माओं की अमर वाणी आज के भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है। परन्तु भक्ति ने केवल आध्यात्मिक और धार्मिक साधनाओं को ही रूप नहीं दिया उसने लौकिक रस-परक रचनाओं को भी बडी दूर तक प्रभावित किया। नितान्त लौकिक रस की कविताओं में भी गोपी और गोपाल इस प्रकार आ जाते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। भगवान की भक्ति ने किसी साहित्य के लौकिक अंग को भी इतनी दूर तक प्रभावित किया हो यह बात शायद संसार के इतिहास में और कहीं नहीं हुई है। वस्तुत ऐसा कवि मन ही मन यह प्रतिज्ञा करके ही कलम उठाता है कि—

'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई न तो—
राधिका गुविन्द सुमिरन को बहानो है।

इस विराट भक्ति आन्दोलन ने लोक-जीवन को और उसकी भाषा को बहुत अधिक प्रभावित किया। वैष्णव भक्ति ने लोगों के चित्त को ही नहीं जीता उसने उनकी जबान पर भी कब्जा कर लिया। तरकारी काटना या कुम्हडा चीरना जैसे निर्दोष प्रयोगों में भी हिंसा की गन्ध पायी गयी और भक्त गृहस्थ ने इन्हें भी छोड देना चाहा। सच्चा वैष्णव मन वचन और कर्म से अहिंसक होता है अगर जबान से काटना या चीरना शब्द निकल गया तो वह वचन से अहिंसक कहाँ रहा। इस मनोवृत्ति ने भाषा के मुहावरों में बहुत परिवर्तन ला दिया। एक व्यक्तिगत अभिज्ञता की बात बताऊँ। मैं उन दिनों बालक था। कुछ १२ १३ वर्ष की उम्र होगी। हमारे घर एक प्रसिद्ध वैष्णव आचार्य पधारे थे। मेरे ऊपर उनका विशेष स्नेह था। एक बार वे पूजा पर बैठे थे। जप करते करते उन्होंने मुझे कुछ करने का इशारा किया। इशारे का तात्पर्य ठीक ठीक न समझ सकने के कारण मैंने उनसे पूछा कि क्या ठाकुरजी को टाँग दूँ? क्षण भर में आचार्य का चेहरा तमतमा गया। अन्त में क्रुद्ध होकर उन्होंने इशारा किया कि भाग जाओ। मुझे वहाँ से भागना पडा। बाद में मुझे मालूम हुआ कि मुझसे बहुत बडा अपराध हो गया था कि मैंने ठाकुरजी को टाँग देने की बात कही थी। ठाकुरजी को फूलने देना उचित मुहावरा था। मेरी दुर्नीति

भाषा से पूज्य की पूजा की अवहेलना हुई थी। वैष्णव शिष्टाचार की भाषा मामूली आदमी का भी असम्मान पसन्द नहीं करती, फिर ठाकुरजी की तो बात ही क्या है। मैं जब शान्तिनिकेतन पहली बार आया था तब एक नौकर ने एक दिन पूछा कि आपकी सेवा हो गयी ? मैं थोडी देर तक समझ ही न सका। बाद में उसके गले की कंठी देखकर खयाल आया कि यह आदमी वैष्णव है और तब वहीं समझ में आया कि सेवा अर्थात् भोजन। वैष्णव भोजन से भगवान की सेवा करता है यही मुख्य बात है बाद में प्रसाद पाना तो गौण बात है। सो अच्छा वष्णव भक्त किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध में यह कल्पना नहीं कर सकता कि वह महज पेट के लिए खाता है। असल में वह सेवा करता है। वष्णव शिष्टाचार की भाषा भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल रूप का निदर्शन है। इस भाषा ने साधारण जनता को भी बडी दूर तक प्रभावित किया था।

निर्गुण और सगुण भाव के साधकों में मौलिक भेद था फिर भी राम नाम के प्रचार करने में दोनों ने पूरा उत्साह दिखाया। इस राम नाम ने उत्तर भारत की जनता की भाषा और जीवन पर गहरा प्रभाव छोडा है। राम राम का अर्थ नमस्कार है परन्तु यही राम राम भिन्न भाव से उच्चारित होकर घृणा और जुगुप्सा के अर्थ में व्यवहृत होता है। जन्म और विवाह से लेकर मृत्यु तक सर्वत्र राम नाम के साथ कोई न कोई मुहाविरा जुडा हुआ है। और तो और खाने-पीने से लेकर पहनने ओढ़ने तक की वस्तुओं में राम नाम विद्यमान है। वष्णव जिन वस्तुओं को अपवित्र कहकर त्याग देता है उनके साथ भी राम नाम जोडकर उसमें की अपवित्रता को धो देना चाहता है। प्याज को इसीलिए राम लड्डू कहा जाता है और लहसुन को राम जावा।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में इस्लाम के प्रादुर्भाव की ओर हमने पहले ही लक्ष्य किया है। सूफी मतवाद का वह भारतीय रूप जो प्रेममार्गी सन्तों की देन है बहुत लोकप्रिय हुआ था।

भाषा से पूज्य की पूजा की प्रवत्तना हुई थी। वष्णव शिष्टाचार की भाषा मामूली आदमी का भी असम्मान पसन्द नही करती फिर ठाकुरजी की तो बात ही क्या है। मैं जब शान्तिनिकेतन पहली बार आया था तब एक नौकर ने एक दिन पूछा कि आपकी सेवा हो गयी ? मैं थोडी देर तक समझ ही न सका। बाद म उसके गले की कठी देखकर खयाल आया कि यह आदमी वष्णव है और तब कही समझ म आया कि सेवा अर्थात भोजन। वैष्णव भोजन से भगवान की सेवा करता है, यही मुख्य बात है बाद मे प्रसाद पाना तो गौण बात है। सो अच्छा वष्णव भक्त किसी भी व्यक्ति के सम्बन्ध म यह कल्पना नही कर सकता कि वह महज पेट के लिए खाता है। असल म वह सेवा करता है। वष्णव शिष्टाचार की भाषा भारतीय सस्कृति के उज्ज्वल रूप का निदशन है। इस भाषा ने साधारण जनता को भी बडी दूर तक प्रभावित किया था।

निगुण और सगुण भाव के साधको मे मौलिक भेद था फिर भी राम नाम का प्रचार करने म दोनो ने पूरा उत्साह दिखाया। इस राम नाम ने उत्तर भारत की जनता की भाषा और जीवन पर गहरा प्रभाव छोडा है। 'राम राम का अथ नमस्कार है परन्तु यही 'राम राम भिन्न भाव स उच्चारित होकर घणा और जुगुप्सा के अथ म व्यवहृत होता है। जन्म और विवाह से लेकर मत्यु तक सवत्र राम नाम के साथ कोई न कोई मुहाविरा जुडा हुआ है। और तो और खाने-पीने से लेकर पहनने ओढने तक की वस्तुओ म राम नाम विद्यमान है। वष्णव जिन वस्तुओ को अपवित्र कहकर त्याग देता है उनके साथ भी राम नाम जोडकर उसम की अपवित्रता को धो देना चाहता है। प्याज को इसीलिए राम लड्डू कहा जाता है और लहसुन को राम जावा।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र म इस्लाम के प्रादुर्भाव की ओर हमने पहले ही लक्ष्य किया है। सूफी मतवाद का वह भारतीय रूप जो प्रेममार्गी सन्तो की देन है बहुत लोकप्रिय हुआ था।